भक्ति आन्दोलन के कारण और विकास

(Reasons and Development of Bhakti Movement)

कुसुमलता

भक्ति आंदोलन के कारण एवं विकास

भक्ति आंदोलन के कारण एवं विकास

(Reasons and Development of Bhakti Movement)

कुसुमलता

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली – 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5481-9

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

भक्ति आन्दोलन मध्यकालीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव था। इस काल में सामाजिक-धार्मिक सुधारकों की धारा द्वारा समाज में विभिन्न तरह से भगवान की भक्ति का प्रचार-प्रसार किया गया। यह एक मौन क्रान्ति थी।

यह अभियान सिक्खों के पहले गुरु बाबा नानक द्वारा भारतीय उप महाद्वीप में भगवान की पूजा के साथ जुड़े रीति-रिवाजों के लिए उत्तरदायी था। गुरुद्वारे में गुरबानी का गायन, ये सभी मध्यकालीन इतिहास में (800 - 1700) भारतीय भक्ति आंदोलन से उत्पन्न हुए हैं।

मध्य काल में भक्ति आन्दोलन और सूफी आन्दोलन अपने महत्त्वपूर्ण पड़ाव पर पहुँच गए थे। इस काल में भक्ति आन्दोलन के सूत्रपात एवं प्रचार-प्रसार के महत्त्वपूर्ण कारण निम्नलिखित थे-

मुस्लिम शासकों के बर्बर शासन से कुंठित एवं उनके अत्याचारों से त्रस्त हिन्दू जनता ने ईश्वर की शरण में अपने को अधिक सुरक्षित महसूस कर भक्ति मार्ग का सहारा लिया।

हिन्दू एवं मुस्लिम जनता के आपस में सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्पर्क से दोनों के मध्य सद्भाव, सहानुभूति एवं सहयोग की भावना का विकास हुआ। इस कारण से भी भक्ति आन्दोलन के विकास में सहयोग मिला।

सूफी-सन्तों की उदार एवं सहिष्णुता की भावना तथा एकेश्वरवाद में

उनकी प्रबल निष्ठा ने हिन्दुओं को प्रभावित किया। जिस कारण से हिन्दू, इस्लाम के सिद्धान्तों के निकट सम्पर्क में आये। इन सबका प्रभाव भक्ति आन्दोलन पर बहुत गहरा पड़ा।

हिन्दुओं ने सूफियों की तरह एकेश्वरवाद में विश्वास करते हुए ऊँच-नीच एवं जात-पात का विरोध किया।

शंकराचार्य का ज्ञान मार्ग व अद्वैतवाद अब साधारण जनता के लिए बोधगम्य नहीं रह गया था।

मुंस्लिम शासकों द्वार आये दिन मूर्तियों को नष्ट एवं अपवित्र कर देने के कारण, बिना मूर्ति एवं मंदिर के ईश्वर की अराधना के प्रति लोगों का झुकाव बढ़ा, जिसके लिए उन्हें भक्ति मार्ग का सहारा लेना पड़ा।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**विषय बोध**	**1**
	भक्ति आन्दोलन के कारण	2
	आन्दोलन के प्रणेता	3
	गुरु नानक (1469–1539 ई.)	5
	चैतन्य महाप्रभु (1486 से 1533 ई.)	6
	नरसी (नरसिंह) मेहता	14
	भक्ति आन्दोलन के बारे में विद्वानों के विचार	16
	परिचय	17
	भक्ति आन्दोलन का उदय और विकास	21
	भक्ति आंदोलन के उदय संबधी विविध धारणाएँ	23
2.	**भक्ति आन्दोलन के प्रमुख सन्त**	**27**
	कुलशेखर आलवार	27
	जीवनचरित	34
	दर्शन और विचार	46
	ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रभाव	47
	रामानुज	52
	प्रारंभिक जीवन	53

नामदेव जी का कालनिर्णय	60
जीवन चरित्र	61
नामदेव जी के मत	63
परलोक गमन	64
धर्म के प्रति	83
उदासियाँ	90
दर्शन	90
गुरु ग्रन्थ साहिब	91
पीपाजी	93
संस्कृत में पद्य-रचना	98
कुछ ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण	103
जानकी-मंगल	104
रामाज्ञा प्रश्न	104
जन्म तथा प्रारंभिक जीवन	107
शंकरदेव	112
रचनाएँ	113
आसुरव्यामोह लीला	119
जीवन परिचय	120
तुकाराम का जीवन चरित	129
तुकाराम महाराज का जन्मस्थल और वास्तव्यस्थान	130
रामदास जी का बालपन	132
रामदास जी का तप	133
प्रभु दर्शन	135
भक्ति आन्दोलन	154

1

विषय बोध

भक्ति आन्दोलन मध्यकालीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव था। इस काल में सामाजिक-धार्मिक सुधारकों की धारा द्वारा समाज में विभिन्न तरह से भगवान की भक्ति का प्रचार-प्रसार किया गया। यह एक मौन क्रान्ति थी।

यह अभियान सिक्खों के पहले गुरु बाबा नानक द्वारा भारतीय उप महाद्वीप में भगवान की पूजा के साथ जुड़े रीति-रिवाजों के लिए उत्तरदायी था। गुरुद्वारे में गुरबानी का गायन, ये सभी मध्यकालीन इतिहास में (800 - 1700) भारतीय भक्ति आंदोलन से उत्पन्न हुए हैं।

मध्य काल में भक्ति आन्दोलन की शुरुआत सर्वप्रथम दक्षिण के अलवार भक्तों द्वारा की गई। दक्षिण भारत से उत्तर भारत में बारहवीं शताब्दी के प्रारमभ में रामानन्द द्वारा यह आन्दोलन लाया गया। भक्ति आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य था- हिन्दू धर्म एवं समाज में सुधार तथा इस्लाम एवं हिन्दू धर्म में समन्वय स्थापित करना। अपने उद्देश्यों में यह आन्दोलन काफी सफल रहा। शंकराचार्य के 'अद्वैत दर्शन' के विरोध में दक्षिण में वैष्णव संतों द्वारा 4 मतों की स्थापना की गई, जो निम्नलिखित हैं-

'विशिष्टाद्वैतवाद' की स्थापना 12वीं सदी में रामानुजाचार्य ने की।

'द्वैतवाद' की स्थापना 13वीं शताब्दी में माध्वाचार्य ने की।

'शुद्धाद्वैतवाद' की स्थापना 13वीं सदी में विष्णुस्वामी ने की।

'द्वैताद्वैवाद' की स्थापना 13वीं सदी में निम्बार्काचार्य ने की।

इन सन्तों ने भक्ति मार्ग को ईश्वर प्राप्ति का साधन मानते हुए 'ज्ञान', 'भक्ति' और 'समन्वय' को स्थापित करने का प्रयास किया। इन सनतों की प्रवृत्ति सगुण भक्ति की थी। इन्होंने राम, कृष्ण, शिव, हरि आदि के रूप में आध्यात्मिक व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। 14वीं एवं 15वीं शताब्दी में भक्ति आन्दोलन का नेतृत्व कबीरदास के हाथों में था। इस समय रामानन्द, नामदेव, कबीर, नानक, दादू, रविदास (रैदास), तुलसीदास एवं चैतन्य महाप्रभु जैसे लोगों के हाथ में इस आन्दोलन की बागडोर थी।

भक्ति आन्दोलन के कारण

आदि शंकराचार्य द्वारा स्थापित पीठ

पीठ स्थान

ज्योतिष्पीठ	बद्रीनाथ (उत्तराखण्ड)
गोवर्धनपीठ	पुरी (उड़ीसा)
शारदापीठ	द्वारिका (गुजरात)
श्रृंगेरीपीठ	मैसूर (कर्नाटक)

मध्य काल में भक्ति आन्दोलन और सूफी आन्दोलन अपने महत्त्वपूर्ण पड़ाव पर पहुँच गए थे। इस काल में भक्ति आन्दोलन के सूत्रपात एवं प्रचार-प्रसार के महत्त्वपूर्ण कारण निम्नलिखित थे-

मुस्लिम शासकों के बर्बर शासन से कुंठित एवं उनके अत्याचारों से त्रस्त हिन्दू जनता ने ईश्वर की शरण में अपने को अधिक सुरक्षित महसूस कर भक्ति मार्ग का सहारा लिया।

हिन्दू एवं मुस्लिम जनता के आपस में सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्पर्क से दोनों के मध्य सद्भाव, सहानुभूति एवं सहयोग की भावना का विकास हुआ। इस कारण से भी भक्ति आन्दोलन के विकास में सहयोग मिला।

सूफी-सन्तों की उदार एवं सहिष्णुता की भावना तथा एकेश्वरवाद में उनकी प्रबल निष्ठा ने हिन्दुओं को प्रभावित किया। जिस कारण से हिन्दू, इस्लाम के सिद्धान्तों के निकट सम्पर्क में आये। इन सबका प्रभाव भक्ति आन्दोलन पर बहुत गहरा पड़ा।

हिन्दुओं ने सूफियों की तरह एकेश्वरवाद में विश्वास करते हुए ऊँच-नीच एवं जात-पात का विरोध किया।

शंकराचार्य का ज्ञान मार्ग व अद्वैतवाद अब साधारण जनता के लिए बोधगम्य नहीं रह गया था।

मुंस्लिम शासकों द्वार आये दिन मूर्तियों को नष्ट एवं अपवित्र कर देने के कारण, बिना मूर्ति एवं मंदिर के ईश्वर की अराधना के प्रति लोगों का झुकाव बढ़ा, जिसके लिए उन्हें भक्ति मार्ग का सहारा लेना पड़ा।

आन्दोलन के प्रणेता

भक्तिकाल के प्रमुख संत, उनके सम्प्रदाय एवं मत

प्रवर्तक	सम्प्रदाय	मत	काल
शंकराचार्य	स्मृति सम्प्रदाय	अद्वैतवाद	788-820 ई.
रामानुजाचार्य	श्री सम्प्रदाय	विशिष्टाद्वैतावाद	1017-1133 ई.
निम्बार्काचार्य	सनक सम्प्रदाय	द्वैताद्वैतवाद	1165 ई. (जन्म)
माध्वाचार्य	ब्रह्म सम्प्रदाय	द्वैतवाद	1199-1278 ई.
कबीरदास	कबीर पंथ	विशुद्ध द्वैतवाद	1140-1510 ई.
नानक	सिक्ख सम्प्रदाय	-	1469-1538 ई.
बल्लभाचार्य	रुद्र सम्प्रदाय	शुद्धाद्वैतावाद	1479-1531 ई.
चैतन्य महाप्रभु	मध्य गौडीय सम्प्रदाय	अचिंत्य भेदाभेदवाद	1486-1533 ई.
दादू दयाल	दादूपन्थ निपख सम्प्रदाय	-	1544-1603 ई.
तुकाराम	वारकरी सम्प्रदाय	-	1598-1650 ई.
हितहरी वंश	राधा वल्लभ सम्प्रदाय	-	-
भाष्कराचार्य	-	भेदाभेवाद	-
श्रीकंठ	-	शैव विशिष्टाद्वैत	-
श्रीपति	-	वीर शैव विशिष्टाद्वैत	-
विभान भिक्षु	-	अविभागाद्वैत	-

भक्ति आन्दोलन को प्रेरणा प्रदान करने वाले निम्न महापुरुष थे-

रामानन्द

भक्ति आन्दोलन को दक्षिण से उत्तर में लाने का श्रेय रामानन्द को ही दिया जाता है। वे रामानुज की पीढ़ी के प्रथम संत थे। उन्होंने सभी जातियों एवं धर्म के लोगों को अपना शिष्य बनाकर एक तरह से जातिवाद पर कड़ा प्रहार किया। उनके शिष्यों में कबीर (जुलाहा), सेना (नाई), रैदास (चमार) आदि थे। उन्होंने

एकेश्वरवाद पर बल देते हुए राम की उपासना की बात कही। सम्भवत: हिन्दी में उपदेश देने वाले प्रथम वैष्णव संत रामानन्द ही थे।

कबीरदास

कबीर का जन्म 1440 ई. में वाराणसी में हुआ था। ये सुल्तान सिकन्दर शाह लोदी के समकालीन थे। सूरत गोपाल इनका मुख्य शिष्य था। मध्यकालीन संतों में कबीरदास का साहित्यिक एवं ऐतिहासिक योगदान नि:सन्देह अविस्मरणीय है।

एक महान् समाज सुधारक के रूप में उन्होंने समाज में व्याप्त हर तरह की बुराइयों के खिलाफ संघर्ष किया, जिनमें उन्हें काफी हद तक सफलता भी मिली। कबीर ने राम, रहीम, हजरत, अल्लाह, आदि को एक ही ईश्वर के अनेक रूप माना। उन्होंने जाति प्रथा, धार्मिक कर्मकाण्ड, बाहरी आडम्बर, मूर्ति पूजा, जप-तप, अवतारवाद आदि का घोर विरोध करते हुए एकेश्वरवाद में आस्था एवं निराकार ब्रह्मा की उपासना को महत्त्व दिया। कबीर ने ईश्वर प्राप्ति हेतु शुद्ध प्रेम, पवित्रता एवं निर्मल हदय की आवश्यकता बताई। कबीर ने कहा था कि "हे माधव! अपनी कंठी माला ले लो, क्योंकि भूखे पेट मैं तुम्हारा भजन नहीं कर सकता।" निर्गुण भक्ति धारा से जुड़े कबीर ऐसे प्रथम भक्त थे, जिन्होंने सन्त होने के बाद भी पूर्णत: सहिष्णुता की भावना को बनाये रखते हुए धर्म को अकर्मण्यता की भूमि से हटाकर कर्मयोगी की भूमि पर लाकर खड़ा किया। कबीर ने अपना सन्देश अपने दोहों के माध्यम से जनसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत किया। इनके अनुयायी कबीरपंथी कहलाये। इसमें हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों के लोग शामिल थे। कबीर की प्रमुख रचनाओं में साखी, सबद, रमैनी, दोहा, होली, रेखताल आदि प्रमुख है। कबीर की मुत्यु 1510 ई. में मगहर में हुई। ये रामानन्द के शिष्य तथा सिकन्दर लोदी के समकालीन थे।

जो लोग तत्कालीन समाज व्यवस्था के प्रति तीव्र आलोचक थे और हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात करते थे, उनमें से कबीर और नानक का योगदान सबसे अधिक है। कबीर के जन्म और बचपन के विषय में काफी अनिश्चय है। लोक श्रुतियों के अनुसार वे एक विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे, जिसने उन्हें तालाब पर छोड़ दिया था और उनका लालन-पालन एक जुलाहे ने किया। उसने अपने पालक का व्यवसाय सीख लिया। लेकिन अपने काशी-प्रवास के दौरान कबीर हिन्दू और मुस्लिम संतों के सम्पर्क में आये। कबीर ईश्वर के एक होने पर बल

देते थे। ईश्वर को उन्होंने राम, हरि, गोविन्द, अल्लाह, साई, साहिब आदि अनेक नामों से पुकारा है। उन्होंने मूर्ति-पूजा, तीर्थ यात्रा, पवित्र-नदी स्नान, नमाज जैसे कर्मकाण्डों का तीव्र विरोध किया। वे साधु जीवन अपनाने के लिए गृहस्थी का सामान्य जीवन त्यागने को भी अनावश्यक मानते थे। यद्यपि कबीर यौगिक क्रियाओं से परिचित थे, फिर भी वे हठयोग और पुस्तकीय ज्ञान को वास्तविक ज्ञान के लिए जरूरी नहीं समझते थे। आधुनिक इतिहासकार डॉक्टर ताराचंद कहते हैं कि कबीर का लक्ष्य प्रेम के धर्म का प्रचार था, जो सब वर्णों और जातियों में एकता स्थापित कर सके। उन्होंने हिन्दू और इस्लाम, दोनों धर्मों के उन तत्त्वों को अस्वीकार किया, जो इस भावना के विरोधी थे, और जो व्यक्ति के वास्तविक आध्यात्मिक मंगल में महत्त्वपूर्ण नहीं रहे थे।

सिक्ख संप्रदाय के दस गुरु

गुरु	काल	प्रमुख उपलब्धियाँ
गुरु नानकदेव	1469-1539 ई.	सिक्ख धर्म के प्रवर्तक
गुरु अंगद	1538-1552 ई.	गुरुमुखी लिपि के जनक
गुरु अमरदास	1552-1574 ई.	-
गुरु रामदास	1574-1581 ई.	अमृतसर के संस्थापक
गुरु अर्जुन देव	1581-1606 ई.	स्वर्ण मंदिर की स्थापना
गुरु हरगोविंद सिंह	1606-1645 ई.	अकाल तख्त की स्थापना
गुरु हरराय	1645-1661 ई.	-
गुरु हरि किशन	1661-1664 ई.	-
गुरु तेग बहादुर सिंह	1664-1675 ई.	-
गुरु गोविन्द सिंह	1675-1708 ई.	खालसा सेना का संगठन

गुरु नानक (1469-1539 ई.)

गुरु नानक का जन्म 1469 में तलवन्डी नामक स्थान पर हुआ था। इनके पिता का नाम कालू तथा माता का नाम तृप्ता था। कबीर के बाद तत्कालीन समाज को प्रभावित करने वालों में नानक का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उनका विवाह बाल्यावस्था में ही हो गया था, और उन्हें पिता के व्यवसाय, लेखा-जोखा तैयार करने में प्रशिक्षित करने के लिए फारसी कि शिक्षा दी गई थी। किन्तु नानक का झुकाब अध्यात्मवाद की ओर था और उन्हें साधु-संतों की

संगति अच्छी लगती थी। कुछ समय बाद उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि मिली और उन्होंने सन्न्यास ग्रहण कर लिया। वे काव्य रचना करते थे और सारंगी के संगीत के साथ गाया करते थे। सारंगी उनका स्वामीभक्त शिष्य मरदाना बजाया करता था। कहा जाता है कि नानक ने सारे भारत और दक्षिण में श्रीलंका तथा पश्चिम में मक्का और मदीना का भ्रमण किया। बड़ी संख्या में लोग उनकी ओर आकृष्ट हुए और 1539 में उनकी मृत्यु से पूर्व ही उनका नाम दूर-दूर तक फैल गया।

उन्होंने बिना किसी वर्ग पर आघात किये ही उसके अन्दर छिपे कुसंस्कारों को नष्ट करने का प्रयास किया। उन्होंने धर्म के बाह्य आडम्बर, जात-पात, छुआछूत, ऊँच-नीच, उपवास, मूर्तिपूजा, अन्ध-विश्वास, बहु-देववाद आदि की आलोचना की। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता, सच्ची ईश्वर भक्ति और सच्चरित्रता पर विशेष बल दिया। निरंकार ईश्वर को इन्होंने अकाल पुरुष की संज्ञा दी। उनका दृष्टिकोण विशाल मानवतावादी था। उनके उपदेशों को सिक्ख पंथ के पवित्र ग्रंथ 'गुरुग्रंथ साहब' में संकलित किया गया है।

गुरुनानक का व्यक्तित्त्व असाधारण था। उनमें पैगम्बर, दार्शनिक, राजयोगी, गृहस्थ, त्यागी, धर्म सुधारक, समाज-सुधारक, कवि, संगीतज्ञ, देशभक्त, विश्वबन्धु सभी के गुण उत्कृष्ट मात्रा में विद्यमान थे। उनमें विचार-शक्ति और क्रिया-शक्ति का अपूर्व सामंजस्य था। उन्होंने पूरे देश की यात्रा की। लोगों पर उनके विचारों का असाधारण प्रभाव पड़ा। उनमें सभी गुण मौजूद थे। पैगंबर, दार्शनिक, राजयोगी, गृहस्थ, त्यागी, धर्म सुधारक, कवि, संगीतज्ञ, देशभक्त, विश्वबंधु आदि सभी गुण जैसे एक व्यक्ति में सिमटकर आ गए थे। उनकी रचना 'जपुजी' का सिक्खों के लिए वही महत्त्व है, जो हिंदुओं के लिए गीता का है।

चैतन्य महाप्रभु (1486 से 1533 ई.)

बंगाल में भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु ने सगुण भक्ति मार्ग का अनुसरण करते हुए, कृष्ण भक्ति पर विशेष बल दिया। अन्य सन्तों की तरह चैतन्य ने भी जात-पात एवं अनावश्यक धार्मिक कुरीतियों का विरोध किया।

चैतन्य ने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, कीर्तन, उपासना आदि को महत्त्व दिया। चैतन्य के अनुसार प्रेम तथा भक्ति, नृत्य एवं संगीत, लीला एवं कीर्तन से सगुण ब्रह्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। चैतन्य महाप्रभु ने 'गोसाई संघ' की स्थापना की और साथ ही 'संकीर्तन प्रथा' को जन्म दिया। उनके दार्शनिक सिद्धान्त को 'अचिंत्य भेदाभेदवाद' के नाम से जाना जाता है। चैतन्य के अनुयायी

उन्हें कृष्ण या विष्णु का अवतार मानते हैं तथा 'गौरांगमहाप्रभु' के नाम से पूजते हैं। चैतन्य का प्रभाव बंगाल के अतिरिक्त बिहार एवं उड़ीसा में भी था। सगुणोपसना को चैतन्य के अतिरिक्त बल्लभाचार्य, तुलसीदास, सूरदास एवं मीराबाई ने भी अपनाया।

चैतन्य महाप्रभु का पूरा नाम 'विश्वम्भर मिश्र' और कहीं-कहीं 'श्रीकृष्ण चैतन्य चन्द्र' मिलता है। चैतन्य ने चौबीस वर्ष की उम्र में वैवाहिक जीवन त्याग कर सन्न्यास ग्रहण कर लिया था। वे कर्मकांड के विरोधी और श्रीकृष्ण के प्रति आस्था के समर्थक थे। चैतन्य मत का एक नाम 'गोडीय वैष्णव मत' भी है। चैतन्य ने अपने जीवन का शेष भाग प्रेम और भक्ति का प्रचार करने में लगाया। उनके पंथ का द्वार सभी के लिए खुला था। हिन्दू और मुसलमान सभी ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। उनके अनुयायी चैतन्य देव को विष्णु का अवतार मानते हैं। अपने जीवन के अठारह वर्ष उन्होंने उड़ीसा में बिताये। छह वर्ष तक वे दक्षिण भारत, वृन्दावन आदि स्थानों में विचरण करते रहे। 48 वर्ष की अल्पायु में उनका देहांत हो गया। मृदंग की ताल पर कीर्तन करने वाले चैतन्य के अनुयायियों की संख्या आज भी पूरे भारत में पर्याप्त है।

रैदास

रैदास चमार जाति के थे। वे रामानन्द के बारह शिष्यों में से एक थे। ये बनारस में मोची का काम करते थे। निर्गुण ब्रह्मा के उपासक रैदास ने हिन्दू और मुसलमानों में कोई भेद नहीं माना। वे ईश्वर की एकता में विश्वास करते थे, किन्तु उन्होंने अवतारवाद का खण्डन किया। उन्होंने 'रायदासी सम्प्रदाय' की स्थापना की।

दादू दयाल

अन्य सन्तों की तरह अन्ध-विश्वास, मूर्ति पूजा, जात-पात, तीर्थयात्रा आदि के विरोधी दादू दयाल ने आचरण एवं चरित्र की शुद्धता पर बल दिया। दादू द्वारा स्थापित 'दादूपंथी' एक भेदभाव मुक्त पंथ है। उनके समय में 'निपक्ष' नामक आन्दोलन की शुरुआत की गई। अन्य संत कवियों, जैसे-कबीर, नामदेव, रविदास (रैदास) और हरिदास की रचनाओं के साथ भी किंचित परिवर्तित छंद संग्रह पंचवाणी में शामिल हैं। यह ग्रंथ दादू पंथ के धार्मिक ग्रंथों में से एक है।

आम जनता का विवरण आम तौर पर कहीं नहीं मिलता। यही कारण है कि इन संतों के जीवन का प्रामाणिक विवरण हमें नहीं मिलता। दादू, रैदास और यहाँ तक की कबीर का नामोल्लेख भी उस युग के इतिहास-ग्रंथों में यदा-कदा ही मिलता है। संतों का उल्लेख उनकी मृत्यु के वर्षों बाद मिलने लगता है, जब उनके शिष्य संगठित राजनीतिक-सामाजिक शक्ति के रूप में उभर कर आने लगे थे। इतनी उपेक्षा के बावजूद, दादू दयाल उन कवियों में से नहीं हैं, जिन्हें भारतीय जनता ने भुला दिया हो। आधुनिक शोधकर्ताओं ने अनुसंधान करके ऐसे अनेक विस्मृत कवियों को खोज निकालने का गौरव प्राप्त किया है।

दादू के जीवन काल में ही उनके अनेक शिष्य बन चुके थे। उन्हें एक सूत्र में बाँधने के विचार से एक पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना होनी चाहिये, यह विचार स्वयं दादू के मन में आ गया था, और इसलिए उन्होंने सांभर में 'पर ब्रह्म सम्प्रदाय' की स्थापना कर दी थी। दादू की मृत्यु के बाद उनके शिष्यों ने इस सम्प्रदाय को 'दादू पंथ' कहना शुरू कर दिया। आरम्भ में इनके कुल एक सौ बावन शिष्य माने जाते रहे। इनमें से एक सौ शिष्य (बीतरागी) थे और भगवन भजन में ही लगे रहे। बावन शिष्यों ने एकांत भगवत-चिन्तन के साथ लोक में ज्ञान के प्रचार-प्रसार का संगठनात्मक कार्य करना भी आवश्यक समझा। इन बावन शिष्यों के थांभे प्रचलित हुए। इनके थांभे अब भी अधिकतर राजस्थान, पंजाब व हरियाणा में हैं। इस क्षेत्र में अनेक स्थानों पर दादू-द्वारों की स्थापना की गई थी। उनके शिष्यों में गरीबदास, बधना, रज्जब, सुन्दरदास, जनगोपाल आदि प्रसिद्ध हुए। इनमें से अधिकतर संतों ने अपनी मौलिक रचनाएँ भी प्रस्तुत की थीं।

सुन्दरदास

सुन्दरदास दादू दयाल के शिष्य, एक कवि और सन्त थे। उनका जन्म राजस्थान के बनिया परिवार में हुआ था। उनके विचार 'सुन्दर विलास' नामक पुस्तक में मिलते हैं।

वीरभान

इनका जन्म पंजाब के 'नारनौल' के समीप हुआ। उन्होंने सतनामियों के सम्प्रदाय की स्थापना की। सतनामियों की धर्म पुस्तक का नाम 'पोथी' है। उन्होंने जातिवाद एवं मूर्तिपूजा का खण्डन किया।

बहिनाबाई

बहिनाबाई महाराष्ट्र की एक महिला संत थीं। वह तुकाराम को अपना गुरु मानती थीं।

निम्बार्काचार्य

निम्बार्काचार्य का जन्म तमिलनाडु के 'बेल्लारी' में हुआ था। इन्हें 'सुदर्शन चक्र' का अवतार माना जाता है। इन्होंने 'सनक सम्प्रदाय' की स्थापना की तथा 'द्वैताद्वैतवाद' नामक दर्शन दिया। वर्तमान अन्वेषकों ने अनेक प्रमाणों से इनका जीवन-काल ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध किया है। इनके भक्त इनका जन्म काल द्वापर का मानते हैं। इनका जन्म दक्षिण भारत के गोदावरी नदी के तट पर स्थित वैदूर्यपत्तन के निकट अरुणाश्रम में हुआ था। ऐसा प्रसिद्ध है कि, इनके उपनयन के समय स्वयं देवर्षि नारद ने इन्हें श्री गोपाल-मन्त्री की दीक्षा प्रदान की थी तथा श्रीकृष्णोपासना का उपदेश दिया था।

माध्वाचार्य

माध्वाचार्य को 'आनंदतीर्थ' एवं 'पूर्णप्रज्ञ' आदि नामों से भी जाना जाता है। इन्होंने 'द्वैतवाद' का प्रतिपाद किया। इनके शास्त्रार्थ का उद्देश्य भगवद्भक्ति का प्रचार, वेदों की प्रामाणिकता की स्थापना, मायावाद का खण्डन तथा शास्त्र-मर्यादा का संरक्षण करना था। गीताभाष्य का निर्माण करने के बाद इन्होंने बद्रीनारायण की यात्रा की। वहाँ इनको भगवान वेदव्यास के दर्शन हुए। अनेक राजा इनके शिष्य हुए। अनेक विद्वानों ने इनसे प्रभावित होकर इनका मत स्वीकार किया। इन्होंने अनेक प्रकार की योग-सिद्धियाँ प्राप्त कीं। बद्रीनारायण में श्री व्यास जी ने इन पर प्रसन्न होकर इन्हें तीन शालिग्राम-शिलाएँ दी थीं, जिनको इन्होंने सुब्रह्मण्य, मध्यतल और उडुपी में पधराया।

बल्लभाचार्य

बल्लभाचार्य ने कृष्णदेव राय के समय विजयनगर में वैष्णव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की। वे द्वैतवाद में विश्वास करते थे और 'श्रीनाथजी' के रूप में उन्होंने कृष्ण भक्ति पर बल दिया। उनके महत्त्वपूर्ण धार्मिक ग्रन्थों में 'सुबोधिनी' और 'सिद्धान्त रहस्य' शामिल हैं। उनका अधिकतम समय काशी और वृंदावन में व्यतीत हुआ। इलाहाबाद में उन्होंने चैतन्य से भेंट की थी। भक्ति और प्रेम के

प्रति उनका अत्यधिक झुकाव था इसी कारण उन्होंने रास-लीलाओं को अपना समर्थन दिया। इनका जन्म 1479 ई. में वाराणसी में हुआ। विष्णु स्वामी के रुद्र सम्प्रदाय का इनके व्यक्तित्त्व पर गहरा प्रभाव पड़ा। इन्होंने 'शुद्धाद्वैतवाद' दर्शन दिया। बल्लभाचार्य के अनुयायी 'अवटछाप' नाम से विख्यात हुए।

रामानुज

रामानुज का जन्म 1017 ई. में तिरुपति नामक स्थान पर हुआ था। माता का नाम 'कान्ति देवी' तथा 'पिता' का नाम 'असुरि केशव सोमनाथजी' था। इनका बचपन का नाम 'लक्ष्मण' था। इनका दार्शनिक मत 'विशिष्टाद्वैतवाद' तथा सम्प्रदाय, श्री सम्प्रदाय था। चोल शासक कुलोत्तुंग द्वितीय से मतभेद के कारण 'रामानुज' होयसल शासक विष्णुवर्धन के दरबार में चले गए और उसे वैष्णव सम्प्रदाय का अनुयायी बनाया।

मीराबाई

मीराबाई का जन्म 1498 ई. में मेड़ा जिले के 'कुदकी' नामक ग्राम में हुआ था। वे 'सिसोदिया वंश' की राजकुमारी थीं। इनका विवाह सिसोदिया वंश के राणा साँगा के पुत्र भोजराज से हुआ था। मीराबाई के ईष्ट देव श्रीकृष्ण थे। मीराबाई ने कृष्ण-भक्ति के स्फुट पदों की रचना की है। ये बचपन से ही कृष्णभक्ति में रुचि लेने लगी थीं। मीरा के कृष्ण-भक्ति के पद बहुत लोकप्रिय हैं। हिन्दी के साथ-साथ राजस्थानी और गुजराती में भी इनकी रचनाएं पाई जाती हैं। हिन्दी के भक्त-कवियों में मीरा का स्थान बहुत ऊंचा है।

सूरदास

सूरदास का जन्म 1478 ई. में रुनकता नामक ग्राम में हुआ था। वे बल्लभाचार्य के शिष्य थे। सूरदास को 'पुष्टिमार्ग' का जहाज कहा जाता है। वे 'अष्टछाप' के कवि थे। उन्होंने ब्रजभाषा में तीन ग्रन्थों की रचना की, जो 'सूरसागर', 'सूरसरावली' तथा 'साहित्य लहरी' के नाम से जानी जाती हैं। गोस्वामी हरिराय के 'भाव प्रकाश' के अनुसार सूरदास का जन्म दिल्ली के पास 'सीही' नाम के गाँव में एक अत्यन्त निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था।

उनके तीन बड़े भाई थे। सूरदास जन्म से ही अन्धे थे, किन्तु सगुण बताने की उनमें अद्‌भुत शक्ति थी। 6 वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपनी सगुण बताने

की विद्या से माता-पिता को चकित कर दिया था। किन्तु इसी के बाद वे घर छोड़कर चार कोस दूर एक गाँव में तालाब के किनारे रहने लगे थे। सगुन बताने की विद्या के कारण शीघ्र ही उनकी ख्याति हो गयी। गान-विद्या में भी वे प्रारम्भ से ही प्रवीण थे। शीघ्र ही उनके अनेक सेवक हो गये और वे 'स्वामी' के रूप में पूजे जाने लगे। 18 वर्ष की अवस्था में उन्हें पुनः विरक्ति हो गई और वे यह स्थान छोड़कर आगरा और मथुरा के बीच यमुना नदी के किनारे 'गऊघाट' पर आकर रहने लगे।

सूरदास के जीवन की किसी अन्य घटना का उल्लेख नहीं है, केवल इतना बताया गया है कि, वे भगवद्भक्तों को अपने पदों के द्वारा भक्ति का भावपूर्ण सन्देश देते रहते थे। कभी-कभी वे श्रीनाथ जी के मन्दिर से नवनीत प्रिय जी के मन्दिर भी चले जाते थे। किन्तु हरिराय ने कुछ अन्य चमत्कारपूर्ण रोचक प्रसंगों का उल्लेख किया है। जिनसे केवल यह प्रकट होता है कि, सूरदास परम भगवदीय थे और उनके समसामयिक भक्त कुम्भनदास, परमानन्ददास आदि उनका बहुत आदर करते थे। 'वार्ता' में सूरदास के गो-लोकवास का प्रसंग अत्यन्त रोचक है।

तुलसीदास

तुलसीदास का जन्म 1523 ई. में बाँदा जिले के 'राजापुर' नामक ग्राम में हुआ था। वे मुगल शासक अकबर के समकालीन थे।

उन्होंने ईश्वर के सगुण रूप को स्वीकार करते हुए राम को ईश्वर का अवतार मानकर उनकी भक्ति पर विशेष बल दिया। तुलसीदास ने अवधी भाषा में रामचरितमानस की रचना की। इसके अतिरिक्त उनके अन्य ग्रन्थों में- 'वैराग्य संदीपनी', 'श्रीकृष्ण गीतावली' तथा 'विनय पत्रिका' आदि प्रमुख हैं।

तुलसीदास श्री सम्प्रदाय के आचार्य रामानन्द की शिष्य परम्परा में थे। इन्होंने समय को देखते हुए लोकभाषा में 'रामायण' लिखा। इसमें ब्याज से वर्णाश्रम धर्म, अवतारवाद, साकार उपासना, सगुणवाद, गो-ब्राह्मण रक्षा, देवादि विविध योनियों का यथोचित् सम्मान एवं प्राचीन संस्कृति और वेदमार्ग का मण्डन और साथ ही उस समय के विधर्मी अत्याचारों और सामाजिक दोषों की एवं पन्थवाद की आलोचना की गयी है। गोस्वामी जी पन्थ वा सम्प्रदाय चलाने के विरोधी थे। उन्होंने व्याज से भ्रातृप्रेम, स्वराज्य के विद्धान्त, रामराज्य का आदर्श, अत्याचारों से बचने और शत्रु पर विजयी होने के उपाय, सभी राजनीतिक बातें

खुले शब्दों में उस कड़ी जासूसी के जमाने में भी बतलायीं, परन्तु उन्हें राज्याश्रय प्राप्त न था।

महाराष्ट्र में भक्ति आन्दोलन

मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन को विकसित करने तथा लोकप्रिय बनाने में महाराष्ट्र के सन्तों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। महाराष्ट्र में भक्ति पंथ 'पण्ढरपुर' के मुख्य देवता 'विठोवा' या 'बिट्ठल' के मन्दिर के चारों ओर केन्द्रित था। विट्ठल या विठोवा को कृष्ण का अवतार माना जाता था, इसलिए यह आन्दोलन पण्ढरपुर आन्दोलन के रूप में प्रसिद्ध हुआ महाराष्ट्र में भक्ति आन्दोलन मुख्य रूप से दो सम्प्रदायों में विभक्त था–

महाराष्ट्र के भक्त सन्त

सन्त	काल
नामदेव	1270–1350 ई.
ज्ञानेश्वर (ज्ञानदेव)	1271–1296 ई.
एकनाथ	1533–1598 ई.
तुकाराम	1599–1650 ई.
रामदास	1608–1681 ई.

वारकरी सम्प्रदाय – पण्ढरपुर के विट्ठल भगवान के सौम्य भक्तों का सम्प्रदाय। यह रहस्यवादियों का सम्प्रदाय था।

धरकरी सम्प्रदाय – भगवान राम के भक्तों का सम्प्रदाय था। इसके अनुयायी स्वयं को 'रामदास' अविहित करते हैं।

'निवृत्तिनाथ' तथा 'ज्ञानेश्वर', महाराष्ट्र में रहस्यवादी सम्प्रदाय के संस्थापक थे तथा आगे चलकर नामदेव, एकनाथ और तुकाराम द्वारा विभिन्न रूप धारण किए।

ज्ञानेश्वर या ज्ञानदेव (1271–1296 ई.)

महाराष्ट्र के भक्ति आंन्दोलन को लोकप्रिय बनाने में 'ज्ञानेश्वर' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने मराठी भाषा में श्रीमद्भागवत पर 'ज्ञानेश्वरी' नामक टीका लिखी।

नामदेव (1270-1305 ई.)

नामदेव, संत ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। इनका जन्म एक दर्जी परिवार में हुआ था। प्रारम्भ में ये डाकू थे। ये क्रान्तिकारी स्वभाव के थे। उनका मार्ग निर्गुण भक्ति का था। उन्होंने जाति व्यवस्था तथा छुआछूत का जोरदार खण्डन किया और ईश्वर की एकता पर बल दिया। उन्होंने मराठी भाषा के माध्यम से केवल महाराष्ट्र के सन्तों के लिए ही नहीं, बल्कि मराठों के राजनीतिक उन्नयन के लिए भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। नामदेव ने दूर-दूर तक यात्रा की तथा दिल्ली में सूफी सन्तों से वाद-विवाद भी किया। नामदेव ने कहा था कि, "एक पत्थर की पूजा होती है, तो दूसरों को पैरों तले रौंदा जाता है। यदि एक भगवान है, तो दूसरा भी भगवान है"।

एकनाथ (1533-1599 ई.)

एकनाथ का जन्म 'पैठन' (औरंगाबाद) में हुआ था। इन्होंने पहली बार 'ज्ञानेश्वरी' का विश्वसनीय संस्करण प्रकाशित करवाया। इन्होंने मराठी भाषा में 'भावार्थ रामायण' की रचना की।

तुकाराम (1598-1650 ई.)

तुकाराम शिवाजी के समकालीन थे। इनका जन्म 1608 ई. में पूना के निकट 'देही' नामक परिवार में हुआ था। इन्होंने कभी दरबारी जीवन को स्वीकार नहीं किया। शिवाजी द्वारा दिए गए विपुल उपहारों की भेंट को इन्होंने लेने से इन्कार कर दिया। तुकाराम ने निर्गुण ब्रह्मा को स्वीकार किया तथा हिन्दू-मुसलमान एकता पर बल दिया। इन्होंने 'बरकरी पंथ' की स्थापना की थी।

रामदास (1608-1681 ई.)

इनका जन्म 1608 ई. में हुआ था। इन्होंने 12 वर्षों तक पूरे भारत का भ्रमण किया तथा अन्त में कृष्णा नदी के तट पर 'चफाल' के पास बस गए तथा वहीं पर इन्होंने एक मंदिर की स्थापना की। ये शिवाजी के आध्यात्मिक गुरु थे। इनकी महत्त्वपूर्ण रचना 'दासबोध' हैं, जिसमें इन्होंने समन्वयवादी सिद्धान्त के साथ-साथ विविध विज्ञानों एवं कलाओं के अपने विस्तृत ज्ञान को संयुक्त रूप से प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त 'हेमाद्रि', 'चक्रधर' और 'रामनाथ' आदि की गणना भी महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्तों में की जाती है।

अन्य प्रमुख सन्त

कुछ अन्य धर्म प्रचारक व सुधारक सन्त, जिन्होंने समाज में अपना बहुमूल्य योगदान दिया, उंनका विवरण निम्न प्रकार से है-

शंकरदेव (1449-1568 ई.)

ये मध्यकालीन असम के महानतम धार्मिक सुधारक थे। इनका संदेश विष्णु या उनके अवतार कृष्ण के प्रति पूर्ण भक्ति पर केन्द्रित था। एकेश्वरवाद इनकी शिक्षा का केन्द्र था। इनके द्वारा स्थापित सम्प्रदाय एक शरण सम्प्रदाय के रूप में प्रसिद्ध है। इन्होंने सर्वोच्च देवता के महिला सहयोगियों को मान्यता प्रदान नहीं की है। शंकरदेव द्वारा स्थापित 'एकशरण सम्प्रदाय' में भागवत पुराण या श्रीमद्भागवत को मंदिरों की वेदी पर श्रद्धापूर्वक रखा जाता है। शंकरदेव एक मात्र ऐसे सन्त थे, जो मूर्ति के रूप में कृष्ण की पूजा के विरोधी थे। इनके धर्म को सामान्यत: महापुरुषीय धर्म के रूप में जाना जाता है।

नरसी (नरसिंह) मेहता

नरसी मेहता 15वीं सदी के गुजरात के एक प्रसिद्ध सन्त थे। इन्होंने राधा और कृष्ण के प्रेम का चित्रण करने हेतु गुजराती में गीतों की रचना की। महात्मा गांधी के प्रिय भजन 'वैष्णव जन तो तेनो कहिए' के रचयिता 'नरसी मेहता' ही थे।

भक्ति आन्दोलन का आरम्भ दक्षिण भारत में आलवारों एवं नायनारों से हुआ, जो कालान्तर में (800 ई, से 1700 ई, के बीच) उत्तर भारत सहित सम्पूर्ण दक्षिण एशिया में फैल गया।

इस हिन्दू क्रांतिकारी अभियान के नेता शंकराचार्य थे, जो एक महान विचारक और जाने माने दार्शनिक रहे। इस अभियान को चैतन्य महाप्रभु, नामदेव, तुकाराम, जयदेव ने और अधिक मुखरता प्रदान की। इस अभियान की प्रमुख उपलब्धि मूर्ति पूजा को समाप्त करना रहा।

भक्ति आंदोलन के नेता रामानंद ने राम को भगवान के रूप में लेकर इसे केन्द्रित किया। उनके बारे में बहुत कम जानकारी है, परन्तु ऐसा माना जाता है कि वे 15वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में रहे। उन्होंने सिखाया कि भगवान राम सर्वोच्च भगवान हैं और केवल उनके प्रति प्रेम और समर्पण के माध्यम से तथा उनके पवित्र नाम को बार-बार उच्चारित करने से ही मुक्ति पाई जाती है।

चैतन्य महाप्रभु एक पवित्र हिन्दू भिक्षु और सामाजिक सुधार, थे, भगवान के प्रति प्रेम भाव रखने के प्रबल समर्थक, भक्ति योग के प्रवर्तक, चैतन्य ने ईश्वर की आराधना श्रीकृष्ण के रूप में की।

श्री रामानुजाचार्य, भारतीय दर्शनशास्त्री थे और उन्हें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैष्णव संत के रूप में मान्यता दी गई है। रामानंद ने उत्तर भारत में जो किया वही रामानुज ने दक्षिण भारत में किया। उन्होंने रुढ़िवादी कुविचार की बढ़ती औपचारिकता के विरुद्ध आवाज उठाई और प्रेम तथा समर्पण की नींव पर आधारित वैष्णव विचाराधारा के नए सम्प्रदायक की स्थापना की। उनका सर्वाधिक असाधारण योगदान अपने मानने वालों के बीच जाति के भेदभाव को समाप्त करना या।

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में भक्ति आंदोलन के अनुयायियों में संत शिरोमणि रविदास,भगत नामदेव और संत कबीर दास शामिल हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से भगवान की स्तुति के भक्ति गीतों पर बल दिया।

प्रथम सिक्ख गुरु और सिक्ख धर्म के प्रवर्तक, गुरु नानक जी भी निर्गुण भक्ति संत थे और समाज सुधारक थे। उन्होंने सभी प्रकार के जाति भेद और धार्मिक शत्रुता तथा रीति-रिवाजों का विरोध किया। उन्होंने ईश्वर के एक रूप माना तथा हिन्दू और मुस्लिम धर्म की औपचारिकताओं तथा रीति-रिवाजों की आलोचना की। गुरु नानक का सिद्धांत सभी लोगों के लिए था। उन्होंने हर प्रकार से समानता का समर्थन किया।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में भी अनेक धार्मिक सुधारकों का उत्थान हुआ। वैष्णव सम्प्रदाय के राम के अनुयायी तथा कृष्ण के अनुयायी अनेक छोटे वर्गों और पंथों में बंट गए। राम के अनुयायियों में प्रमुख संत कवि तुलसीदास थे। वे अत्यंत विद्वान थे और उन्होंने भारतीय दर्शन तथा साहित्य का गहरा अध्ययन किया। उनकी महान कृति 'रामचरितमानस्' जिसे जन साधारण द्वारा 'तुलसीकृत रामायण' कहा जाता है, हिन्दू श्रद्धालुओं के बीच अत्यंत लोकप्रिय है। उन्होंने लोगों के बीच श्री राम की छवि सर्वव्यापी, सर्व शक्तिमान, दुनिया के स्वामी और परब्रह्म के साकार रूप से बनाई।

कृष्ण के अनुयायियों ने 1585 ईस्वीं में हरिवंश के अंतर्गत राधा बल्लभी पंथ की स्थापना की। सूरदास ने ब्रजभाषा में सूर सागर की रचना की, जो श्री कृष्ण के मोहक रूप तथा उनकी प्रेमिका राधा की कथाओं से परिपूर्ण है।

प्रभाव

भक्ति आन्दोलन के द्वारा हिन्दू धर्म ने इस्लाम के प्रचार, जोर-जबरदस्ती एवं राजनैतिक हस्तक्षेप का कड़ा मुकाबला किया।

इसका इस्लाम पर भी प्रभाव पड़ा। (सूफीवाद)

भक्ति आन्दोलन की कुछ विशेषताएं

यह आन्दोलन न्यूनाधिक पूरे दक्षिणी एशिया (भारतीय उपमहाद्वीप) में फैला हुआ था।

यह लम्बे काल तक चला।

इसमें समाज के सभी वर्गों (निम्न जातियाँ, उच्च जातियाँ, स्त्री-पुरुष, सनातनी, सिख, मुसलमान आदि) का प्रतिनिधित्व रहा।

भक्ति आन्दोलन के बारे में विद्वानों के विचार

बालकृष्ण भट्ट के लिए भक्तिकाल की उपयोगिता अनुपयोगिता का प्रश्न मुस्लिम चुनौती का सामना करने से सीधे-सीधे जुड़ गया था। इस दृष्टिकोण के कारण भट्ट जी ने मध्यकाल के भक्त कवियों का काफी कठोरता से विरोध किया और उन्हें हिन्दुओं को कमजोर करने का जिम्मेदार भी ठहराया। भक्त कवियों की कविताओं के आधार पर उनके मूल्यांकन के बजाय उनके राजनीतिक सन्दर्भों के आधार पर मूल्यांकन का तरीका अपनाया गया। भट्ट जी ने मीराबाई व सूरदास जैसे महान कवियों पर हिन्दू जाति के पौरुष पराक्रम को कमजोर करने का आरोप मढ़ दिया। उनके मुताबिक समूचा भक्तिकाल मुस्लिम चुनौती के समक्ष हिन्दुओं में मुल्की जोश जगाने में नाकाम रहा। भक्त कवियों के गाये भजनों ने हिन्दुओं के पौरुष और बल को खत्म कर दिया।

रामचन्द्र शुक्ल जी ने भक्ति को पराजित, असफल एवं निराश मनोवृत्ति की देन माना था। अनेक अन्य विद्वानों ने इस मत का समर्थन किया जैसे, बाबू गुलाब राय आदि। डॉ. राम कुमार वर्मा का मत भी यही है -मुसलमानों के बढ़ते हुए आतकं ने हिंदुओं के हृदय में भय की भावना उत्पन्न कर दी थी इस असहायावस्था में उनके पास ईश्वर से प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सर्वप्रथम इस मत का खंडन किया तथा प्राचीनकाल से इस भक्ति प्रवाह का सम्बन्ध स्थापित करते हुए अपने मत को

स्पष्टत: प्रतिपादित किया। उन्होंने लिखा – 'यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार से यदि भक्ति की धारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में, फिर उसे उत्तरभारत में, प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में।'

परिचय

स्वामी माधवाचार्य (संवत् 1254–1333) ने 'ब्रह्म सम्प्रदाय' नाम से द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया जिसकी ओर लोगों का झुकाव हुआ। इसके साथ ही द्वैताद्वैतवाद (सनकादि सम्प्रदाय) के संस्थापक निम्बार्काचार्य ने विष्णु के दूसरे अवतार कृष्ण की प्रतिष्ठा विष्णु के स्थान पर की तथा लक्ष्मी के स्थान पर राधा को रख कर देश के पूर्व भाग में प्रचलित कृष्ण–राधा (जयदेव, विद्यापति) की प्रेम कथाओं को नवीन रूप एवं उत्साह प्रदान किया। वल्लभाचार्य जी ने भी कृष्ण भक्ति के प्रसार का कार्य किया। जगत्प्रसिद्ध सूरदास भी इस सम्प्रदाय की प्रसिद्धि के मुख्य कारण कहे जा सकते हैं। सूरदास ने वल्लभाचार्य जी से दीक्षा लेकर कृष्ण की प्रेमलीलाओं एवं बाल क्रीड़ाओं को भक्ति के रंग में रंग कर प्रस्तुत किया। माधुर्यभाव की इन लीलाओं ने जनता को बहुत रसमग्न किया।

इस तरह दो मुख्य सम्प्रदाय सगुण भक्ति के अन्तर्गत अपने पूरे उत्कर्ष पर इस काल में विद्यमान थे – रामभक्ति शाखा, कृष्णभक्ति शाखा।

इसके अतिरिक्त भी दो शाखाएँ प्रचलित हुईं – प्रेममार्ग (सूफी) तथा निर्गुणमार्ग शाखा।

सगुण धारा के इस विकास क्रम के समानांतर ही बाहर से आए हुए मुसलमान सूफी संत भी अपने विचारों को सामान्य जनता में फैला रहे थे। मुसलमानों के इस लम्बे प्रवास के कारण भारतीय तथा मुस्लिम संस्कृति का आदान–प्रदान होना स्वाभाविक था। फिर इन सूफी संतों ने भी अपने विचारों को जनसाधारण में व्याप्त करने की, अपने मतों को भारतीय आख्यानों में, भारतीय परिवेश में, यहीं की भाषा–शैली लेकर प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया। इनके मतों में कट्टरता का कहीं भी आभास नहीं था। इनका मुख्य सिद्धान्त प्रेम तत्त्व था। यद्यपि प्रेम के माध्यम से ईश्वर को पाने के लिए किए जाने वाले प्रयास (विधि) में कुछ अन्तर अवश्य था तथापि इनके प्रेम तत्त्व के प्रतिपादन एवं

प्रसार शैली ने लोगों को आकर्षित किया। इन्होंने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन भी किया जिसे कुछ लोगों ने अद्वैतवाद ही मान लिया, जो कि उचित नहीं है। हजरत निजामुद्दीन चिश्ती, सलीम चिश्ती आदि अनेक संतों ने हिन्दू-मुसलमान सबका आदर प्राप्त किया। इस सूफी मत में भी चार धाराएँ मुख्यतः चलीं-

1. चिश्ती सम्प्रदाय
2. कादरी सम्प्रदाय
3. सुहरावर्दी सम्प्रदाय
4. नक्शबंदिया सम्प्रदाय।

जायसी, कुतुबन, मंझन आदि प्रसिद्ध (साहित्यकार) कवियों ने हिन्दी साहित्य को अमूल्य साहित्य रत्न भेंट किए। निर्गुणज्ञानाश्रयी शाखा पर भी इनका प्रभाव पड़ा तथा हिन्दू-मुसलमानों के भेद को मिटाने की बातें कही जाने लगीं। आचार्य शुक्ल ने भी इन्हें, 'हिन्दू और मुसलमान हृदय को आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वाला' कहा

रामानन्द जी उत्तर भारत में रामभक्ति को लेकर आए थे। उनके सिद्धान्तों में इस भक्ति का स्वरूप दो प्रकार का था - राम का निर्गुण रूप, राम का अवतारी रूप। ये दोनों मत एक साथ ही थे। निर्गुण रूप में राम का नाम तो होता पर उसे 'दशरथ-सुत' की कथा से सम्बद्ध नहीं किया जाता। रामानन्द ने देखा कि भगवान की शरण में आने के उपरान्त छूआ-छूत, जाँत-पाँत आदि का कोई बन्धन नहीं रह जाता। अतः संस्कृत के पण्डित और उच्च ब्राह्मण कुलोद्भूत होने के पश्चात् भी उन्होंने देश-भाषा में कविता लिखी और सबको (ब्राह्मण से लेकर निम्न जाति वालों तक को) राम-नाम का उपदेश दिया। कबीर इन्हीं के शिष्य थे। कबीर, रैदास, धन्ना, सेना, पीपा आदि इनके शिष्यों ने इस मत को प्रसिद्ध किया। रामनाम के मंत्र को लेकर चलने वाले अक्खड़-फक्कड़ संतों ने भेद-भाव भुला कर सबको प्रेमपूर्वक गले लगाने की बात कही। वैदिक कर्मकाण्ड के द्वारा फैले हुए आडंबरों एवं बाह्य विधि-विधानों के त्याग पर बल देते हुए राम नाम का प्रेम, श्रद्धा से स्मरण करने की सरल पद्धति और सहज समाधि का प्रसार किया। कबीर में तीन प्रमुख धाराएँ समाहित दिखाई देती हैं-

1. उत्तरपूर्व के नाथपंथ और सहजयान का मिश्रित रूप
2. पश्चिम का सूफी मतवाद और
3. दक्षिण का वेदान्तभावित वैष्णवधर्म

हठयोग का कुछ प्रभाव इन पर अवश्य है, परन्तु मुख्यत: प्रेम तत्त्व पर ही बल दिया गया है। सामाजिक सुधार के क्षेत्र में इन संतों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इन संतों के साहित्य में हमें तत्कालीन युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक समस्त स्थितियों के दर्शन हो जाते हैं। धार्मिक दृष्टि से भी इनका योग बहुत है। सहज प्रेम की भाषा पर बल देने के कारण लोगों का इन पर भी बहुत झुकाव रहा। कबीर की मृत्यु के कुछ समय बाद इसमें भी सम्प्रदाय की स्थापना हो गई। अन्य शाखाओं के समान इसका महत्त्व भी भक्तिकाल को पूर्ण बनाने में है।

ये चारों शाखाएँ भक्तिकाल या मध्यकाल के पूर्व भाग में अपने उत्कर्ष में थीं। इन चारों ही शाखाओं ने हिन्दी साहित्य को बड़े-बड़े व्यक्तित्त्व प्रदान किए जैसे - सूर, तुलसी, कबीर आदि। अपने भक्तिभाव की चरम उत्कृष्टता के लिए भी ये जनता के मन-मानस पर आधिपत्य कर सके। आज भी ये श्रद्धा एवं आदर से देखे जाते हैं। यद्यपि कालान्तर में इन सम्प्रदायों में भी अनैतिकता के तत्त्वों के प्रवेश के कारण शुद्धता नहीं रह गई थी तथा इनका पतन भी धीरे-धीरे हो गया था तथापि जो अद्‌भुत मणियाँ इस काल में प्राप्त हुई, वे किसी भी अन्य काल में प्राप्त नहीं हो सकीं, यह निस्संदेह कहा जा सकता है। भक्तिकाल में हर प्रकार से कला समृद्धि हुई, नवीन वातावरण का जन्म हुआ, जन-जन में भक्ति, प्रेम और श्रद्धा के स्त्रोत फूट पड़े, ऐसा काल वस्तुत: साहित्येतिहास का 'स्वर्णकाल' कहलाने योग्य है।

सम्प्रदायों से मुक्त रूप में भी भक्ति का प्रचार था। मीरा, रसखान, रहीम का नाम उतनी ही श्रद्धा से लिया जाता है जितना कि किसी सम्प्रदायबद्ध संत कवि का। इस तरह कहा जा सकता है कि जनता में सम्प्रदाय से भी अधिक शुद्ध भक्ति-भाव की महत्ता थी। एकान्तिक भक्ति ने समष्टिगत रूप धारण किया और जन-जन के हृदय को आप्लावित कर दिया।

तुलसी की मृत्यु (1680 ई.) के कुछ समय बाद ही रीतिकाल के आगमन के चिह्न दिखाई देने लगे थे। राम के मर्यादावादी रूप का सामान्यीकरण करके उसमें भी लौकिक लीलाओं का समावेश कर दिया गया। कृष्ण की प्रेम भक्ति (मूलक) जागृत करने वाली लीलाओं में से कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं को ग्रहण करके उसका अश्लील चित्रण होने लगा था। यह स्थिति रीतिकाल में अपने घोरतम रूप में पहुँच गई थी। इसीलिए कहा गया था 'राधिका कन्हाई सुमरिन को बहानो है।' रामभक्ति का जो रूप तुलसी ने अंकित किया था, यद्यपि वह धूमिल नहीं हुआ तथापि राजाओं के आश्रय में

रहने वाले कवियों ने शृंगारिकता के वातावरण में उसे विस्मृत कर दिया था। इस तरह धीरे-धीरे 1680-90 के आसपास भक्तिकाल समाप्त हो गया।

कालांतर में यद्यपि जनता में भक्तिभाव विद्यमान रहे तथापि न तो ऐसी (तुलसी आदि के समान) को महान विभूति पैदा हो सकी और न कोई बहुत अधिक लोकप्रिय ग्रंथ ही लिखा जा सका।

भक्ति युग का यह आन्दोलन बहुत बड़ा आन्दोलन था एवं ऐसा आन्दोलन भारत ने इससे पहले कभी नहीं देखा था। इस साहित्य ने जनता के हृदय में श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, जिजीविषा जागृत की, साहस, उल्लास, प्रेम भाव प्रदान किया, अपनी मातृभूमि, इसकी संस्कृति का विराट एवं उत्साहवर्धक चित्र प्रस्तुत किया, लोगों के हृदय में देश प्रेम भी प्रकारंतर से इसी कारण जागृत हुआ।

भक्तियुग में इस तरह मुख्यत: भक्तिपरक साहित्य की रचना हुई परन्तु यह भी पूर्णतया नहीं कहा जा सकता कि किसी अन्य प्रकार का साहित्य उस काल में था ही नहीं। यह अकबर का शासन काल था तथा उसके दरबार में अनेक कवि थे। अब्दुर्रहीम खानखाना आदि की राजप्रसस्तिपरक कुछ कविताएँ मिलती हैं। अकबर ने साहित्य की पारम्परिक धारा को भी प्रोत्साहन दिया था। अत: काव्य का वह रूप भी कृपाराम की 'हिततरंगिणी' बीरबल के फुटकर दोहों आदि में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त नीति परक दोहे आदि लिखे गये।

एक और महान कवि आचार्य केशव को शुक्ल जी ने भक्तिकाल के फुटकर कवियों में रखा है। यह कार्य उन्होंने केशव के रचनाकाल के आधार पर किया है। केशव की अलंकार, छंद, रस के लक्षणों - उदाहरणों को प्रस्तुत करने वाली तीन महत्त्वपूर्ण रचनाओं - कविप्रिया, रसिकप्रिया तथा रामचन्द्रिका को भक्ति से भिन्न मान कर भी उन्हें इस युग के फुटकर कवियों में शुक्ल जी ने रखा है, परन्तु यह उचित नहीं है। केशव का आचार्यत्त्व पूरे रीतिकाल को गौरव प्रदान करता है। रीति - लक्षण -उदाहरण के निर्धारण की परम्परा भी सर्वप्रथम उन्हीं में दिखाई देती है चाहें रीतिकाल में इस निर्धारण के लिए केशव को रीतिकाल से पृथक् करना अनुचित है। अत: उन्हें भक्तियुग में रखना उचित नहीं है।

भक्तिकाल में ललित कलाओं का उत्कर्ष दिखाई देता है। श्रीकृष्ण-राधा की विभिन्न लीलाओं के चित्र इस काल में मिलते हैं, कोमल एवं सरस भावों को अभिव्यक्त करने वाली अनेक मूर्तियाँ इस काल में मिलती है। मूर्तिकला का बहुत विकास इस युग में बहुत अधिक हुआ था। वास्तुकला, चित्रकला में

मुस्लिम (ईरानी) शैली का समन्वय भारतीय शैली में हुआ फलतः मेहराबें, गुम्बद आदि का प्रयोग अधिक दिखाई देने लगा। मध्यकाल में राजस्थानी शैली अधिक लोकप्रिय थी। मानवीय चित्रों के अतिरिक्त प्राकृतिक दृश्यों का अंकन, दरबारी जीवन के विविध प्रसंग भी भित्ति चित्र इस युग में प्राप्त होते हैं। 'कुतुबमीनार', 'अढ़ाई दिन का झौंपड़ा' आदि ऐतिहासिक वास्तुकला के अप्रतिम नमूने हैं।

इस तरह साहित्य के साथ ललित कलाओं का विकास भी बहुत अधिक हुआ था। संगीत के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई। कृष्ण लीलाओं का गायन, साखी, रमैनी, पद को राग निबद्ध करने की जैसी योजना इस काल में है वैसी अन्यत्र प्राप्य नहीं है। सूर और तुलसी साहित्य में अनेक राग-रागनियों का वर्णन आता है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि भक्ति के उद्‌भव एवं विकास के समय जो कुछ भी भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति तथा इतिहास को प्राप्त हुआ, वह स्वयं में अद्‌भुत, अनुपम एवं दुर्लभ है। अंततः हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में कह सकते है -

समूचे भारतीय इतिहास में यह अपने 'समय का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है। भक्ति का यह नया इतिहास मनुष्य जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद्‌भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्विक जीवन और साधन है भगवान के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का गान।

भक्ति आन्दोलन का उदय और विकास

ईश्वर के प्रति जो परम प्रेम है उसे भक्ति कहते हैं। नारद भक्ति - सूत्र में कहा गया है कि ' परमात्मा ' के प्रति परम प्रेम को भक्ति कहते हैं। भक्ति शब्द की निष्पति ' भज् ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है ' सेवा करना ' भक्ति में ईश्वर का भजन, पूजन, अर्पण आदि शामिल होता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का वर्गीकरण करने पर द्वितीय चरण को भक्तिकाल की संज्ञा दी गई है। तथा इसे पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है। पूर्व मध्यकाल एवं उत्तर मध्यकाल में पूर्व मध्यकाल को ही भक्तिकाल कहा जाता है। इस काल में मुगल सल्तनत भारत में स्थापित हो चुकी थी। मुस्लिम शासकों के अत्याचारों से आहत होकर हिन्दू जनता ने प्रभु की शरण में अपने

आपको सुरक्षित महसूस किया और भक्ति मार्ग का अनुसरण किया। भक्ति आन्दोलन में नये विचारों का जन्म हुआ इसने भारतीय संस्कृति एवं समाज को एक दिशा दी। इस आन्दोलन ने एक और माननीय भावनाओं को उभारा, वहीं व्यक्तिवादी विचारधारा को सशक्त बनाया जिसमें भक्ति के माध्यम से ईश्वर से सम्पर्क स्थापित करके सदाचार, मानवता, भक्ति और प्रेम जरूरी समझा गया।

मुख्य शब्द

तादात्मय, आन्दोलन, सर्वव्यापी, आगोचर, मुखरता

भारतीय इतिहास का मध्यकाल कई मायनों में परिवर्तनों का काल रहा हैं। यह परिवर्तन राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृति, कलाओं और साहित्य इत्यादि में देखे जा सकते हैं। जिस समय मुसलमान भारत पर राज्य कर रहे थे, उस वक्त उन्होंने हिन्दू धर्म पर इस्लाम मानने का दबाव बनाया। इसी कारण की वजह से हिन्दुओं को धार्मिक रूप से आघात करने की कोशिश की और हिन्दुओं को भक्ति आंदोलन से हिम्मत मिली भक्ति - काल के उदय की व्याख्या के प्रंसग में रामचन्द्र शुक्ल जी लिखते हैं, देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया उनके सामने ही उसके देवमन्दिर गिराये जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थी और पूज्य पुरूषों का अपमान होता था और वे कुछ नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत वे न तो गा सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया जब परस्पर लड़ने वाले स्वंतत्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छायी रही अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था। इस कथन से हमारे सामने राजनैतिक परिस्थितियाँ तो स्पष्ट हो जाती हैं। साहित्य का अध्ययन करने पर हमें यह पता चलता हैं कि आदिकाल में भी नाथों और सिद्धो के अंतर्गत यह दिखाया गया हैं कि नाथ पंथ ईश्वर को 'शून्य' रूप में मानते है जिसे वे 'अलख निरंजन ' कहते है। नाथ पंथियों ने वैराग्य से मुक्ति सम्भव मानी है और वैराग्य गुरु की कृपा से मिलता है इसलिए गुरु दीक्षा तथा गुरुमंत्र का नाथ सम्प्रदाय में विशेष महत्त्व है। सिद्धों की साधनों को गुहा साधना कहा गया है। इनका मानना था कि ईश्वर को प्राप्त

करना सबके बस की बात नहीं है। वे जादू – टोने में ही जनता को उलझा देते थे।

ऐसे समय में भक्त कवि जनता के हृदय को संभालने व लीन रखने के लिए भक्ति भाव को जगाने का प्रयास करने लगे।

स्वामी माधवाचार्य ने ' ब्रह्म सम्प्रदाय ' नाम से द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया जिसकी ओर लोगों का झुकाव हुआ। इसके साथ ही द्वैताद्वैतवाद के संस्थापक निम्बार्काचार्य ने विष्णु के दूसरे अवतार श्री कृष्ण की प्रतिष्ठा विष्णु के स्थान पर की। वल्लभाचार्य जी ने भी कृष्ण भक्ति के प्रसार का कार्य किया देश के पूर्व भाग में प्रचलित कृष्ण – राधा (जयदेव, विद्यापति) की प्रेम कथाओं को नवीन रूप प्रदान किया। जैन धर्म का प्रचार गुजरात से काठियावाड़ तक रहा है। हिन्दू धर्म-इस्लाम के संपर्क से मात्र व्यक्तिगत साधना को केन्द्र न रहकर सामूहिक साधना का रूप धारण करने लगा था और उसमें आन्दोलनकारी प्रवृतियाँ उभरने लगी थी। सभी धर्मो में युगानुरूप परिस्थिति के अनुसार पंथों, सम्प्रदायों और उप संप्रदायों तक की सृष्टि होने लगी, जिसके माध्यम से भक्ति आंदोलन का सूत्रपात हुआ।

भक्ति आंदोलन के उदय संबधी विविध धारणाएँ

भक्ति आंदोलन के उदय की व्याख्या साहित्यकारों तथा इतिहासकारों ने अपने – अपने ढंग से की है मगर भक्ति आंदोलन के सदंर्भ में यह माना है कि सबसे पहले भक्ति का उदय दक्षिण के आलवर संतों के यहाँ उत्पन्न हुई। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि – ' भक्ति द्राविड़ी ऊपजी लाए रामानन्द ' भक्ति का जो स्रोत दक्षिण भारत से धीरे – धीरे उतर भारत की ओर आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला। रामानन्द रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में हुए और उन्होंने रामानन्दी सम्प्रदाय खड़ा कर दिया तथा विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बल दिया इन सभी का यह मूल उद्देश्य ज्ञान के साथ भक्ति का तादात्मय स्थापित करना था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी व रामचन्द्र शुक्ल भक्ति के उदय की व्याख्या अलग – अलग रूपों में करते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, भक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ हिन्दुओं की पराजित मनोवृति को नहीं मानते। वे कहते हैं– '' मुसलमानों के अत्याचार से

यदि भक्ति की भावधारा का उमड़ना था तो पहले सिन्ध में और फिर उसे उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था पर हुई दक्षिण में।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने इतिहास ग्रंथ ' हिन्दी साहित्य का इतिहास ' में लिखते है कि "जब मुस्लिम साम्राज्य दूर-दूर तक स्थापित हो गया, तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य नहीं रह गए इतने भारी उलट - फेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रहीं, अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की भक्ति और करुणा की और ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था। ''

रामानुज मानते थे कि ईश्वर की भक्ति सभी वर्गो को समान रूप से करनी चाहिये लेकिन ईश्वर की प्राप्ति तभी हो सकती है जब ईश्वर का सच्चे मन से ध्यान किया जाये। उतर भारत का भक्ति आंदोलन दक्षिण से अविरल धारा के रूप में इतिहास के विकास - क्रम में उतर भारत में फैला। इस आंदोलन से राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक सभी परिस्थितियाँ प्रभावित हुई। आज हम राष्ट्र एकता के रूप में इसे देख सकते हैं।

भक्ति आंदोलन के उदय संबंधी धाराएं

इस काल में ईश्वर के दो रूप माने गए हैं - सगुण एवं निर्गुण। जब परमात्मा को निराकार, अज, अनादि, सर्वव्यापी, अगोचर सूक्ष्म मानकर उसकी विवेचना की जाती है तब उसे निर्गुण ब्रह्मा कहा जाता है और जब वही ब्रह्मा सगुण साकार रूप धारण करके पर शरीर ग्रहण कर नाना प्रकार के कृत्य करता है तब उसे सगुण परमात्मा के रूप में जाना जाता हैं। सगुण तथा निर्गुण धाराएं सामानांतर चलती रही आगे चलकर निर्गुण धारा दो शाखाओं में बंट गई - एक तो ज्ञानाश्रयी शाखा तथा दूसरी प्रेममार्गी शाखा। ज्ञानाश्रयी शाखा के अन्तर्गत रामकाव्य और कृष्णकाव्य हैं। ज्ञानाश्रयी शाख्या के कवियों को संत कवि कहा जाता है इस शाखा के प्रतिनिधि कवि कबीर है। वही दूसरी ओर प्रेममार्गी शाखा को सूफी शाखा के नाम से जाना जाता है। इस काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि जायसी हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार

'' सगुणोपासक भक्त भगवान के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानता है, पर भक्ति के लिए सगुण रूप ही स्वीकार करता है, निर्गुण रूप ज्ञानमार्गियों के लिए छोड़ देता हैं। ''

भक्ति साहित्य में भले ही निर्गुण – सगुण का भेद चला हो लेकिन मध्ययुगीन कवियों ने इस भेद को उस तरह से बढ़ने नहीं दिया जिससे इनके मानने वालों में वैमनुस्य हो।

तुलसीदास जी ने कहा कि ' अगुनहि सगुनहि नहीं कुछ भेदा ' इस प्रकार हम देखते हैं कि सगुण और निर्गुण उपासक दोनों में प्रेम और मानवता का धागा जुड़ा हुआ दिखाई देता है। भक्ति आंदोलन के उद्‌भव के कारण हिन्दू समाज के विभिन्न घटकों को संगठित करने का कार्य किया तत्कालीन परिस्थितियों में हिन्दू तथा मुसलमान निर्गुण तथा सगुण धाराओं के माध्यम से भी भेद भुलाकर मानवता के उदात्त मूल्यों की स्थापना में लगे हुए थे।

भक्ति आंदोलन परम्परा

भक्ति आंदोलन की परम्परा में चैतन्य महाप्रभु, रामानुजाचार्य, संत कबीर, संत तुकाराम आदि शंकराचार्य और संत रविदास ने मुखरता प्रदान की। चैतन्य महाप्रभु भक्तिकाल के प्रमुख कवियों में गिने जाते हैं। इन्होंने वैष्णवों के गौड़ीय सम्प्रदाय की आधारशिला रखी तथा भजन गायकी की एक नयी शैली का विकास किया। इनके विचारों का सार यह है कि: – श्री कृष्ण ही एकमात्र देव है वे मूर्तिमान सौन्दर्य हैं, प्रेमपरक है। उनकी तीन शक्तियाँ – परम ब्रह्म शक्ति, माया शक्ति और विलास शक्ति है। श्री रामानु चार्य के दर्शन में सता या परमसत् के सम्बन्ध में तीन स्तर माने गए हैं ब्रह्म अर्थात् ईश्वर, चित् अर्थात् आत्मा तथा अचित अर्थात् प्रकृति वस्तुत: ये चित्, अचित् ईश्वर से पृथक् नहीं है बल्कि ये विशिष्ट रूप से ब्रह्म का ही स्वरूप है। कबीर के राम इस्लाम के एकेश्वरवादी एकसत्तावादी खुदा भी नहीं हैं। इस्लाम में खुदा या अल्लाह को समस्त जगत एवं जीवों से भिन्न एवं परम समर्थ माना जाता है। कबीर ने हिन्दू–मुसलमान का भेद मिटा कर हिन्दू –भक्तों तथा मुसलमान फकीरों का सत्संग किया और दोनों की अच्छी बातों को हृदयंगम कर लिया।

भक्ति आंदोलन के सभी संतों व कवियों ने उस समय समाज में फैली बुराइयों को रोकने का प्रयत्न किया और शैवों तथा वैष्णवों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष को खत्म किया और लोक–धर्म व भक्ति साधना को सम्मिलित करके जनता के सामने लाए।

निष्कर्ष

भक्ति के उद्‌भव एवं विकास के समय जो कुछ भी भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति तथा इतिहास को प्राप्त हुआ, वह स्वयं में अद्‌भुत, अनुपम एवं दुर्लभ है। उस युग के संत एवं महात्माओं ने अपने धार्मिक विचारों, सिद्धान्तों और उपदेशों से सामान्य जनता सामाजिक व धार्मिक एकता का न केवल पाठ पढ़ाया, वरन् उन्हें ईश्वर प्राप्ति एवं धर्म का सच्चा मार्ग दिखलाया। तत्कालीन समय से लेकर आज तक उन संतों की विचारधारा एवं आदर्श ने लोगों का पथ-प्रदर्शन किया है। उन संतों और महात्माओं के सच्चे अनुयायी आज भी उनके बताये हुए मार्ग का अनुसरण करते हुए अपने जीवन को सार्थक व पूर्ण बना रहे है तथा मानव धर्म का प्रचार-प्रसार कर रहे है।

2

भक्ति आन्दोलन के प्रमुख सन्त

कुलशेखर आलवार

आलवार (तमिलः) (खंत, य अर्थ : 'भगवान में डुबा हुआ') तमिल कवि एवं सन्त थे। इनका काल छठी से 9वीं शताब्दी के बीच रहा। उनके पदों का संग्रह 'दिव्य प्रबन्ध' कहलाता है, जो 'वेदों' के तुल्य माना जाता है। आलवार सन्त भक्ति आन्दोलन के जन्मदाता माने जाते हैं।

विष्णु या नारायण की उपासना करने वाले भक्त 'आलवार' कहलाते हैं। इनकी संख्या 12 हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं–

1. पोरगे आलवार
2. भूतंत्तालवार
3. मैयालवार
4. तिरुमालिसै आलवार
5. नम्मालवार
6. मधुरकवि आलवार
7. कुलशेखरालवार
8. पेरियालवार
9. आण्डाल
10. तांण्डरडिप्पोड़ियालवार

11. तिरुरपाणोलवार
12. तिरुमगैयालवार।

इन बारह आलवारों ने घोषणा की कि भगवान की भक्ति करने का सबको समान रूप से अधिकार प्राप्त है। इन्होंने, जिनमें कतिपय निम्न जाति के भी थे, समस्त तमिल प्रदेश में पदयात्रा कर भक्ति का प्रचार किया। इनके भावपूर्ण लगभग 4000 गीत मालायिर दिव्य प्रबन्ध में संग्रहित हैं। दिव्य प्रबन्ध भक्ति तथा ज्ञान का अनमोल भण्डार है। आलवारों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है–

प्रथम तीन आलवारों में से पोरगे का जन्म स्थान काँचीपुरम्, भूतन्तालवार का जन्मस्थान महाबलिपुरम् और पेयालवार का जन्म स्थान चेन्नै (मैलापुर) बतलाया जाता है। इन आलवारों के भक्तिगान 'ज्ञानद्वीप' के रूप में विख्यात हैं। मद्रास से 15 मील दूर तिरुमिषिसै नामक एक छोटा-सा ग्राम है। यहीं पर तिरुमिष्सि का जन्म हुआ। माता-पिता ने इन्हें शैशवावस्था में ही त्याग दिया। एक व्याध के द्वारा इनका लालन-पालन हुआ। कालांतर में ये बड़े ज्ञानी और भक्त बने। नम्मालवार का दूसरा नाम शठकोप बतलाया जाता है। पराकुंश मुनि के नाम से भी ये विख्यात हैं। आलवारों में यही महत्त्वपूर्ण आलवार माने जाते हैं। इनका जन्म ताम्रपर्णी नदी के तट पर स्थित तिरुक्कुरुकूर नामक ग्राम में हुआ। इनकी रचनाएँ दिव्य प्रबंधम् में संकलित हैं। दिव्य प्रबंधम् के 4000 पद्यों में से 1000 पद्य इन्हीं के हैं। इनकी उपासना गोपी भाव की थी। छठे आलवार मधुर कवि गरुड़ के अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म स्थान तिरुक्कालूर नामक ग्राम है। ये शठकोप मुनि के समकालीन थे और उनके गीतों को मधुर कंठ में गाते थे। इसीलिये इन्हें मधुरकवि कहा गया। इनका वास्तविक नाम अज्ञात है। सातवें आलवार कुलशेखरालवार केरल के राजा दृढ़क्त के पुत्र थे। ये कौस्तुभमणि के अवतार माने जाते हैं। भक्तिभाव के कारण इन्होनें राज्य का त्याग किया और श्रीरंगम् रंगनाथ जी के पास चले गए। उनकी स्तुति में उन्होंने मुकुंदमाला नामक स्तोत्र लिखा है। आठवें आलवार पेरियालवार का दूसरा नाम विष्णुचित् है। इनका जन्म श्रीविल्लिपुत्तुर में हुआ। आंडाल इन्हीं की पोषित कन्या थी। बारह आलवारों में आंडाल महिला थी। एकमात्र रंगनाथ को अपना पति मानकार ये भक्ति में लीन रहीं। कहते हैं, इन्हें भगवान की ज्योति प्राप्त हुई। आंडाल की रचनाएँ निरुप्पाबै और नाच्चियार तिरुमोषि बहुत प्रसिद्ध है। आंडाल की उपासना माधुर्य भाव की है। तोंडरडिप्पोड़ियालवार का जन्म विप्रकुल में हुआ। इनका दूसरा नाम

विप्रनारायण है। बारहवें आलवार तिरुमगैयालवार का जन्म शैव परिवार में हुआ। ये भगवान की दास्य भावना से उपासना करते थे। इन्होनें तमिल में छः ग्रंथ लिखे हैं, जिन्हें तमिल वेदांग कहते हैं।

इन आलवारों के भक्तिसिद्धांतों को तर्कपूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करने वाले अनेक आचार्य हुए हैं जिनमें रामानुजाचार्य और वेदांत देशिक प्रमुख हैं।

परिचय

जब-जब भारत में विदेशियों के प्रभाव से धर्म के लिए खतरा उत्पन्न हुआ, तब-तब अनेक संतों की जमात ने लोक मानस में धर्म की पवित्र धारा बहाकर, उसकी रक्षा की। दक्षिण के आलवार संतों की भी यही भूमिका रही है। 'आलवार' का अर्थ है 'जिसने अध्यात्म ज्ञान रूपी समुद्र में गोता लगाया हो।' आलवार संत गीता की सजीव मूर्ति थे। वे उपनिषदों के उपदेश के जीते जागते नमूने थे।

आलवार संतों की संख्या बारह मानी गई है। उन्होंने भगवान नारायण, राम, कृष्ण आदि के गुणों का वर्णन करने वाले हजारों पद रचे। इन पदों को सुन-गाकर आज भी लोग भक्ति रस में डुबकी लगाते हैं। आलवार संत प्रचार और लोकप्रियता से दूर रहे। ये इतने सरल और सीधे स्वभाव के संत थे कि न तो किसी को दुख पहुंचाते न ही किसी से कुछ अपेक्षा करते।

उन्होंने स्वयं कभी नहीं चाहा, न ही इसका प्रयास किया कि लोग उनके पदों को जानें। ये आलवार संत भिन्न-भिन्न जातियों में पैदा हुए थे, परंतु संत होने के कारण उन सबका समान रूप से आदर है। क्योंकि इन्हीं के कथनानुसार संतों का एक अपना ही कुटुम्ब होता है, जो सदा भगवान में स्थित रहकर उन्हीं के नामों का कीर्तन करता रहता है। वास्तव में नीच वही है, जो भगवान नारायण की प्रेम सहित पूजा नहीं करते।

आलवार संत स्वामी, पिता, सुहृद, प्रियतम तथा पुत्र के रूप में नारायण को ही भजते थे। और नारायण से ही प्रेम करते थे। ''मेरा हृदय स्वप्न में भी उनका साथ नहीं छोड़ता है। जब तक मैं अपने स्वरूप से अनभिज्ञ था, तब तक 'मैं' और 'मेरे' के भाव को ही पुष्ट करता रहता था। परंतु अब मैं देखता हूं कि जो तुम हो वही मैं हूं, मेरा सब कुछ तुम्हारा है, अतः हे प्रभो! मेरे चित्त को डुलाओ नहीं, उसे सदा अपने पादपद्मों से दृढ़तापूर्वक चिपकाए रखो।'' आलवार संतों की वाणी तथा भक्ति इसी प्रकार की थी।

नयनार गुरु

हिन्दू धर्म में नयनार भगवान शिव के भक्त सन्त थे। इनका उद्भव मध्यकाल में मुख्यत: दक्षिण भारत के तमिलनाडु में हुआ था। कुल 63 नयनारों ने शैव सिद्धान्तों के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसी प्रकार विष्णु के भक्त सन्तों को आलवार कहते हैं।

ये सभी नायत्मार मुक्तात्मा माने जाते हैं। इनकी मूर्तियाँ मंदिरों में स्थापित की गई है और इनकी पूजा भगवान के समान ही की जाती है। इन संतों का चरित्र शेक्किषार नामक भक्तकवि के पेरियपुराण में वर्णित है। इन संतों का जीवन तेलुगु में 'शिवभक्त चरितमु' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

63 नयनार सन्त

अनय नयनार
आदिपत्त नयनार
अय्यडिगल् कडवर्कान् नयनार
अमरनीदि नयना
अप्पुदि अडिगळ्
अरिवट्टय नयनार
चंडीश्वर नयनार
दंडियदिगळ् नयनार
नटिनाथ नयनार
घरिपात्त नयनार
अय्यर्कान् कालिक्काम नयनार
गणनाथ नयनार
इडन् गाजि नयनार
इलयान् कुडिमारनायनारु
इयपगै नयनार
कलिकांब नयनार
कालिय नयनार
कानम पुल्ल नयनार
कन्नप्प नायना।
करैक्कल अम्मयारु(कारक्काल् अम्म)

कज् र्हासिंग नयनार
कझरित्ररिवा (चेरमान् परुमाळ् नयनार)
कोचन् गाट् चोळ नयनार
कुत्रुव नयनार
कोट्पुलि नयनार
कुलाचिरायि नयनार
मनकंचार नयनारगुग्गुलु कलश नयनार
मंगया करशिया
मय् परुल् नयनार
मूर्ख नयनार
मूर्ति नयनार
मुनैयडुवारु
मुरुग नयनार
नामिनंदि अडिगळ्
नरसिंग मुनियारयरु
नेश नयनार
निन्नाऋषि नडुमर नयनार
परुमिजहलायि नयनार
पूसर्लानयनार
पूगल् चोळ नयनार
पूगज् तुनायि नयनार
सक्किय नयनार
सदय नायनारु
सत्ति नयनार
शेरुतुनायि नयनार
शिरप्पुलि नयनार
शिरुतंड नयनार
सोमशिर नयनार
सुंदर्राम्मूर्ति
तिरुज्ञान संबंध
तिरुकुरिप्पु तंडनयनार

तिरुमूल नयनार
तिरुनालै पोवा नयनार (नंदनार)
तिरुनवुक्करसारु नयनार
तिरुनीलकंठ नयनार
तिरुनीलकंठ याज् पना नयनार
तिरुनीलनक्कर्कानयनार
रुद्रपशुपति नयनार
वायिलारु नयनार
विराल् मिंड नयनार
इर्यकान् कलिकाम नयनार
करि नयनार
इसै ज्ञाननियार
आदि शंकराचार्य

आदि शंकर भगवान शंकर के साक्षात् अवतार थे। ये भारत के एक महान दार्शनिक एवं धर्म प्रवर्तक थे। उन्होंने अद्वैत वेदान्त को ठोस आधार प्रदान किया। उन्होंने सनातन धर्म की विविध विचारधाराओं का एकीकरण किया। उपनिषदों और वेदांतसूत्रों पर लिखी हुई इनकी टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने भारतवर्ष में चार मठों की स्थापना की थी जो अभी तक बहुत प्रसिद्ध और पवित्र माने जाते हैं और जिन पर आसीन संन्यासी 'शंकराचार्य' कहे जाते हैं। वे चारों स्थान ये हैं- (1) ज्योतिष्पीठ बद्ररिकाश्रम, (2)श्रृंगेरी पीठ, (3) द्वारिका शारदा पीठ और (4) पुरी गोवर्धन पीठ। इन्होंने अनेक विधर्मियों को भी अपने धर्म में दीक्षित किया था। ये शंकर के अवतार माने जाते हैं। इन्होंने ब्रह्मसूत्रों की बड़ी ही विशद्र और रोचक व्याख्या की है।

उनके विचारोप्रदेश आत्मा और परमात्मा की एकरूपता पर आधारित हैं जिसके अनुसार परमात्मा एक ही समय में सगुण और निर्गुण दोनों ही स्वरूपों में रहता है। स्मार्त संप्रदाय में आदि शंकराचार्य को शिव का अवतार माना जाता है। इन्होंने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक और छान्दोग्योपनिषद् पर भाष्य लिखा। वेदों में लिखे ज्ञान को एकमात्रा ईश्वर को संबोधित समझा और उसका प्रचार तथा वार्ता पूरे भारतवर्ष में की। उस समय वेदों की समझ के बारे में मतभेद होने पर उत्पन्न चार्वाक, जैन और बौद्ध मतों

को शास्त्रर्थों द्वारा खण्डित किया और भारत में चार कोनों पर ज्योति, गोवर्धन, श्रृंगेरी एवं द्वारिका आदि चार मठों की स्थापना की।

कलियुग के प्रथम चरण में विलुप्त तथा विकृत वैदिक ज्ञान-विज्ञान को उद्‌भासित और विशुद्ध कर वैदिक वाङ्‌मय को दार्शनिक, व्यावहारिक, वैज्ञानिक धरातल पर समृद्ध करने वाले एवं राजर्षि सुधन्वा को सार्वभौम सम्राट ख्यापित करने वाले चतुराम्नाय-चतुष्पीठ संस्थापक नित्य तथा नैमित्तिक युग्मावतार श्रीशिव स्वरुप भगवत्पाद शंकराचार्य की अमोघदृष्टि तथा अद्‌भुत कृति सर्वथा स्तुत्य है।

सतयुग की अपेक्षा त्रेता में, त्रेता की अपेक्षा द्वापर में तथा द्वापर की अपेक्षा कलि में मनुष्यों की प्रज्ञाशक्ति तथा प्राणशक्ति एवं धर्म और आध्यात्म का ह्रास सुनिश्चित है। यही कारण है कि कृतयुग में शिवावतार भगवान दक्षिणामूर्ति ने केवल मौन व्याख्यान से शिष्यों के संशयों का निवारण किया। त्रेता में ब्रह्मा, विष्णु और शिव अवतार भगवान दत्तात्रेय ने सूत्रात्मक वाक्यों के द्वारा अनुगतों का उद्धार किया। द्वापर में नारायणावतार भगवान कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने वेदों का विभाग कर महाभारत तथा पुराणादि की एवं ब्रह्मसूत्रों की संरचनाकर एवं शुक लोमहर्षणादि कथाव्यासों को प्रशिक्षितकर धर्म तथा आध्यात्म को उज्जीवित रखा। कलियुग में भगवतपाद श्रीमद् शंकराचार्य ने भाष्य, प्रकरण तथा स्तोत्र ग्रन्थों की संरचना कर, विधर्मियों-पन्थायियों एवं मीमांसकादि से शास्त्रार्थ, परकायप्रवेशकर, नारदकुण्ड से अर्चाविग्रह श्री बद्रीनाथ एवं भू-गर्भ से अर्चाविग्रह श्रीजगन्नाथ दारुब्रह्म को प्रकट कर तथा प्रस्थापित कर, सुधन्वा सार्वभौम को राजसिंहासन समर्पित कर एवं चतुराम्नाय - चतुष्पीठों की स्थापना कर अहर्निश अथक परिश्रम के द्वारा धर्म और अध्यात्म को उज्जीवित तथा प्रतिष्ठित किया।

व्यासपीठ के पोषक राजपीठ के परिपालक धर्माचार्यों को श्रीभगवत्पाद ने नीतिशास्त्र, कुलाचार तथा श्रौत-स्मार्त कर्म, उपासना तथा ज्ञानकाण्ड के यथायोग्य प्रचार-प्रसार की भावना से अपने अधिकार क्षेत्र में परिभ्रमण का उपदेश दिया। उन्होंने धर्मराज्य की स्थापना के लिये व्यासपीठ तथा राजपीठ में सद्‌भावपूर्ण सम्वाद के माध्यम से सामंजस्य बनाये रखने की प्रेरणा प्रदान की। ब्रह्मतेज तथा क्षात्रबल के साहचर्य से सर्व सुमंगल कालयोग की सिद्धि को सुनिश्चित मानकर कालगर्भित तथा कालातीतदर्शी आचार्य शंकर ने व्यासपीठ तथा राजपीठ का शोधनकर दोनों में सैद्धान्तिक सामंजस्य साधा।

जीवनचरित

शंकर आचार्य का जन्म 508 ई. पू. केरल में कालपी अथवा 'काषल' नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम शिवगुरु भट्ट और माता का नाम सुभद्रा था। बहुत दिन तक सपत्नीक शिव को आराधना करने के अनंतर शिवगुरु ने पुत्र-रत्न पाया था, अतः उसका नाम शंकर रखा। जब ये तीन ही वर्ष के थे तब इनके पिता का देहांत हो गया। ये बड़े ही मेधावी तथा प्रतिभाशाली थे। छह वर्ष की अवस्था में ही ये प्रकांड पंडित हो गए थे और आठ वर्ष की अवस्था में इन्होंने संन्यास ग्रहण किया था। इनके संन्यास ग्रहण करने के समय की कथा बड़ी विचित्र है। कहते हैं, माता एकमात्र पुत्र को संन्यासी बनने की आज्ञा नहीं देती थीं। तब एक दिन नदी किनारे एक मगरमच्छ ने शंकराचार्यजी का पैर पकड़ लिया तब इस वक्त का फायदा उठाते शंकराचार्य, जी ने अपने माँ से कहा ' माँ मुझे सन्यास लेने की आज्ञा दो नहीं तो हे मगरमच्छ मुझे खा जायेगी ', इससे भयभीत होकर माता ने तुरंत इन्हें संयासी होने की आज्ञा प्रदान की, और आश्चर्य की बात है की, जैसे ही माता ने आज्ञा दी वैसे तुरन्त मगरमच्छ ने शंकराचार्य जी का पैर छोड़ दिया। और इन्होंने गोविन्द नाथ से संयास ग्रहण किया।

पहले ये कुछ दिनों तक काशी में रहे, और तब इन्होंने विजिलबिंदु के तालवन में मण्डन मिश्र को सपत्नीक शास्त्रार्थ में परास्त किया। इन्होंने समस्त भारतवर्ष में भ्रमण करके बौद्ध धर्म को मिथ्या प्रमाणित किया तथा वैदिक धर्म को पुनःज्जीवित किया। कुछ बौद्ध इन्हें अपना शत्रु भी समझते हैं, क्योंकि इन्होंने बौद्धों को कई बार शास्त्रार्थ में पराजित करके वैदिक धर्म की पुनः स्थापना की।

32 वर्ष की अल्प आयु में सन् 475 ईसा पूर्व में केदारनाथ के समीप स्वर्गवासी हुए थे।

काल

भारतीय संस्कृति के विकास एवं संरक्षण में आद्य शंकराचार्य का विशेष योगदान रहा है। आचार्य शंकर का जन्म पश्चिम सुधन्वा चौहान, जो कि शंकर के समकालीन थे, उनके ताम्रपत्र अभिलेख में शंकर का जन्म युधिष्ठिराब्द 2631 शक् (507 ई0पू0) तथा शिवलोक गमन युधिष्ठिराब्द 2663 शक् (475 ई0पू0) सर्वमान्य है। इसके प्रमाण सभी शांकर मठों में मिलते हैं।

आदि शंकराचार्य जी ने जो चार पीठ स्थापित किये, उनके काल निर्धारण में उत्थापित की गई भ्रांतियाँ--

1. उत्तर दिशा में बदरिकाश्रम में ज्योतिर्पीठ : स्थापना–युधिष्ठिर संवत् 2641–2645
2. पश्चिम में द्वारिका शारदापीठ– यु.सं. 2648
3. दक्षिण श्रृंगेरीपीठ– यु.सं. 2648
4. पूर्व दिशा जगन्नाथपुरी गोवर्धनपीठ – यु.सं. 2655

आदि शंकर जी अंतिम दिनों में कांची कामकोटि पीठ 2658 यु.सं. में निवास कर रहे थे।

शारदा पीठ में लिखा है –

'युधिष्ठिर शके 2631 वैशाखशुक्लापंचम्यां श्रीमच्छंकरावतारः।

33तदनु 2663 कार्तिकशुक्लपूर्णिमायां 33श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादा33 निजदेहेनैव33 निजधाम प्राविशन्निति।

अर्थात् युधिष्ठिर संवत् 2631 में वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि को श्री शंकराचार्य का जन्म हुआ और युधि। सं.2663 कार्तिकशुक्ल पूर्णिमा को देहत्याग हुआ। युधिष्ठिर संवत् 3139 B-C- में प्रवर्तित हुआ था,

राजा सुधन्वा के ताम्रपत्र का लेख द्वारिकापीठ के एक आचार्य ने 'विमर्श' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित किया है–

'निखिलयोगिचक्रवर्त्ती श्रीमच्छंकरभगवत्पादपद्मयोर्भ्रं
मरायमाणसुधन्वनो मम सोमवंशचूडामणियुधिष्ठिरपारम्प

'परिप्राप्तभारतवर्षस्यांजलिबद्धपूर्वकेयं राजन्यस्य विज्ञप्तिः333युधिष्ठिरश के 2663 आश्विन शुक्ल 15।

एक अन्य ताम्रपत्र संस्कृत चंद्रिका (कोल्हापुर) के खण्ड 14, संख्या 2–3 में प्रकाशित हुआ था। उसके अनुसार गुजरात के राजा सर्वजित् वर्मा ने द्वारिकाशारदापीठ के प्रथम आचार्य श्री सुरेश्वराचार्य (पूर्व नाम–मंडनमिश्र) से लेकर 29वें आचार्य श्री नृसिंहाश्रम तक सभी आचार्यों के विवरण हैं। इसमें प्रथम आचार्य का समय 2649 युधि. सं. दिया है।

सर्वज्ञ सदाशिवकृत 'पुण्यश्लोकमंजरी' आत्मबोध द्वारा रचित 'गुरुरत्नमालिका' तथा उसकी टीका 'सुषमा' में कुछ श्लोक हैं। उनमें एक श्लोक इस प्रकार है–

तिष्ये प्रयात्यनलशेवधिबाणनेत्रे, ये नन्दने दिनमणावुदगध्वभाजि।
रात्रोदितेरुडुविनिर्गतमंगलग्नेत्याहूतवान् शिवगुरुरू स च शंकरेति ।

अर्थ– अनल=3, शेवधि=निधि=9, बाण=5,नेत्र=2, अर्थात् 3952। 'अंकानां वामतोगतिः' इस नियम से अंक विपरीत क्रम से रखने पर 2593 कलिसंवत्

बना। कलिसंवत् 3102 B-C- में प्रारम्भ हुआ, तदानुसार 3102–2593=509 BC में आदि शंकराचार्य जी का जन्म वर्ष निश्चित होता है।

कुमारिल भट्ट जो कि शंकराचार्य के समकालीन थे, जैनग्रंथ जिनविजय में लिखा है –

ऋषिर्वारस्तथा पूर्ण मर्त्याक्षौ वाममेलनात।
एकीकृत्य लभेतांकरूक्रोधीस्यात्तत्र वत्सरः॥
भट्टाचार्यस्य कुमारस्य कर्मकाण्डैकवादिनः।
ज्ञेयः प्रादुर्भवस्तस्मिन् वर्षे यौधिष्ठिरे शके॥

जैन लोग युधिष्ठिर संवत् को 468 कलिसंवत् से प्रारम्भ हुआ मानते हैं।

श्लोकार्थ– ऋषि=7,वार=7,पूर्ण=0, मर्त्याक्षौ=2, 7702 'अंकानांवामतोगति' 2077 युधिष्ठिर संवत् आया अर्थात् 557 B-C- कुमारिल 48 वर्ष बड़े थे =झ 509 B-C- श्रीशंकराचार्य जी का जन्मवर्ष सिद्ध होता है।

'जिनविजय' में शंकराचार्य जी के देहावसान के विषय में लिखा है–

ऋषिर्बाणस्तथा भूमिर्मर्त्याक्षौ वांममेलनात्।
एकत्वेन लभेतांकस्ताम्राक्षस्तत्र वत्सरः ।

2157 यु. सं. (जैन) 476 B-C- में आचार्य शंकर ब्रह्मलीन हुए !

बृहत्शंकर विजय में चित्सुखाचार्य (शंकराचार्य जी के सह–अध्यायी) ने लिखा है–

षड्विंशकेशतके श्रीमद् युधिष्ठिरशकस्य वै।
एकत्रिंशे *Fk वर्षेतु हायने नन्दने शुभे॥
333333333333|
प्रासूत तन्वंसाध्वी गिरिजेव षडाननमा॥

यहाँ युधिष्ठिर शक 2631 में अर्थात् 508 ई. पू. में आचार्य का जन्म संवत् बताया गया है।

वर्तमान इतिहासकार जिन शंकराचार्य को 788 – 820 ई. का बताते हैं वे वस्तुतः कामकोटि पीठ के 38वें आचार्य श्री अभिनवशंकर जी थे। वे 787 से 840 ईस्वी तक विद्यमान थे। वे चिदम्बरम् वासी श्री विश्वजी के पुत्र थे। इन्होंने कश्मीर के वाक्पतिभट्ट को शास्त्रार्थ में पराजित किया और 30 वर्ष तक मठ के आचार्य पद पर रहे। सभी सनातन धर्मावलम्बियों को अपनें मूल आचार्य के विषय में ज्ञान होना चाहिए। इस विषय में यह ध्यातव्य है कि पुरी के पूज्य वर्तमान शंकराचार्य जी ने सभी प्रमाणभूत साक्ष्यों को भारत सरकार को सौंपकर

उन प्रमाणों के आलोक में ऐतिहासिक अभिलेखों में संशोधन का आग्रह भी किया है।

प्रमुख कार्य

शंकर दिग्विजय, शंकर विजयविलास, शंकरजय आदि ग्रन्थों में उनके जीवन से सम्बन्धित तथ्य उद्ाटित होते हैं। दक्षिण भारत के केरल राज्य (तत्कालीन मालाबार प्रांत) में आद्य शंकराचार्य जी का जन्म हुआ था। उनके पिता शिव गुरु तैत्तिरीय शाखा के यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। भारतीय प्राच्य परम्परा में आदि शंकराचार्य को शिव का अवतार स्वीकार किया जाता है। कुछ उनके जीवन के चमत्कारिक तथ्य सामने आते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वास्तव में आदि शंकराचार्य शिव के अवतार थे। आठ वर्ष की अवस्था में श्री गोविन्द नाथ के शिष्यत्व को ग्रहण कर संन्यासी हो जाना, पुनः वाराणसी से होते हुए बद्रिकाश्रम तक की पैदल यात्रा करना, सोलह वर्ष की अवस्था में बद्रीकाश्रम पहुंच कर ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखना, सम्पूर्ण भारत वर्ष में भ्रमण कर अद्वैत वेदान्त का प्रचार करना, दरभंगा में जाकर मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ कर वेदान्त की दीक्षा देना तथा मण्डन मिश्र को संन्यास धारण कराना, भारतवर्ष में प्रचलित तत्कालीन कुरीतियों को दूर कर समभावदर्शी धर्म की स्थापना करना - इत्यादि कार्य इनके महत्व को और बढ़ा देते हैं। चार धार्मिक मठों में दक्षिण क श्रृंगार शंकराचार्यपीठ, पूर्व (ओडिशा) जगन्नाथपुरी में गोवर्धनपीठ, पश्चिम द्वारिका में शारदामठ तथा बद्रिकाश्रम में ज्योतिर्पीठ भारत की एकात्मकता को आज भी दिग्दर्शित कर रहा है। कुछ लोग श्रृंगार को शारदापीठ तथा गुजरात के द्वारिका में मठ को काली मठ कहते हैं। उक्त सभी कार्य को सम्पादित कर 32वर्ष की आयु में ब्रह्मलीन हुए।

दशनाम गोस्वामी समाज (सरस्वती,गिरि,पुरी, बन,भारती, तीर्थ, सागर,अरण्य ,पर्वत और आश्रम) की संस्थापना कर, हिंदू धर्मगुरू के रूप में हिंदुओं के प्रचार प्रसार व रक्षा का कार्य सौंपा और उन्हें अपना आध्यात्मिक उत्तराधिकारी भी बताया

शास्त्रीय प्रमाण

सर्गे प्राथमि के प्रयाति विरतिं मार्गे स्थिते दौर्गते
स्वर्गे दुर्गमतामुपेयुषि भृशं दुर्गे *पवर्गे सति।

वर्गे देहभृतां निसर्ग मलिने जातोपसर्गे *खिले
सर्गे विश्वसृजस्तदीयवपुषा भर्गो *वतीर्णो भुवि॥

अर्थः- ' सनातन संस्कृति के पुरोधा सनकादि महर्षियों का प्राथमिक सर्ग जब उपरति को प्राप्त हो गया, अभ्युदय तथा निरूश्रेयसप्रद वैदिक सन्मार्ग की दुर्गति होने लगी, फलस्वरूप स्वर्ग दुर्गम होने लगा,अपवर्ग अगम हो गया, तब इस भू-तल पर भगवान भर्ग (शिव) शंकर रूप से अवतीर्ण हुऐ। '

भगवान शिव द्वारा कलियुग के प्रथम चरण में अपने चार शिष्यों के साथ जगदगुरु आचार्य शंकर के रूप में अवतार लेने का वर्णन पुराण शास्त्र में भी वर्णित हैं, जो इस प्रकार हैं–

कल्यब्दे द्विसहस्त्रन्ते लोकानुग्रहकाम्यया।
चतुर्भि : सह शिष्यैस्तु शंकरो *वतरिष्यति॥ (भविष्योत्तर पुराण 36)

अर्थ– 'कलि के दो सहस्त्र वर्ष व्यतीत होने के पश्चात् लोक अनुग्रह की कामना से श्री सर्वेश्वर शिव अपने चार शिष्यों के साथ अवतार धारण कर अवतरित होते हैं।'

निन्दन्ति वेदविद्यांच द्विजाः कर्माणि वै कलौ।
कलौ देवो महादेवरू शंकरो नीललोहितः॥
प्रकाशते प्रतिष्ठार्थं धर्मस्य विकृताकृतिः।
ये तं विप्रा निषेवन्ते येन केनापि शंकरम्॥

कलिदोषान्विनिर्जित्य प्रयान्ति परमं पदम्। (लिंगपुराण 40. 20-21.12)

अर्थः- 'कलि में ब्राह्मण वेदविद्या और वैदिक कर्मों की जब निन्दा करने लगते हैं, रुद्र संज्ञक विकट रूप नीललोहित महादेव धर्म की प्रतिष्ठा के लिये अवतीर्ण होते हैं। जो ब्राह्मणादि जिस किसी उपाय से उनका आस्था सहित अनुसरण सेवन करते हैं, वे परमगति को प्राप्त होते हैं।'

कलौ रुद्रो महादेवो लोकानामीश्वरः परः।
न देवता भवेन्नृणां देवतानांच दैवतम॥
करिष्यत्यवताराणि शंकरो नीललोहितः।
श्रौतस्मार्त्तप्रतिष्ठार्थं भक्तानां हितकाम्यया॥
उपदेक्ष्यति तज्ज्ञानं शिष्याणां ब्रह्मासंज्ञितम।
सर्ववेदान्तसार हि धर्मान वेदनदिर्शितान॥
ये तं विप्रा निषेवन्ते येन केनोपचारतः।

विजित्य कलिजान दोषान यान्ति ते परमं पदम।। (कूर्मपुराण 1.28. 32-34)

अर्थः- 'कलि में देवों के देव महादेव लोकों के परमेश्वर रुद्र शिव मनुष्यों के उद्धार के लिये उन भक्तों की हित की कामना से श्रौत-स्मार्त -प्रतिपादित धर्म की प्रतिष्ठा के लिये विविध अवतारों को ग्रहण करेंगें। वे शिष्यों को वेदप्रतिपादित सर्ववेदान्तसार ब्रह्मज्ञानरुप मोक्ष धर्मों का उपदेश करेंगें। जो ब्राह्मण जिस किसी भी प्रकार उनका सेवन करते हैं य वे कलिप्रभव दोषों को जीतकर परमपद को प्राप्त करते हैं। '

व्याकुर्वन् व्याससूत्रर्थं श्रुतेरर्थं यथोचिवान।
श्रुतेर्न्यायः स एवार्थ : शंकरः सवितानन्ः॥ (शिवपुराण-रुद्रखण्ड 7.1)

अर्थः- 'सूर्यसदृश प्रतापी श्री शिवावतार आचार्य शंकर श्री बादरायण - वेदव्यासविरचित ब्रह्मसूत्रों पर श्रुतिसम्मत युक्तियुक्त भाष्य संरचना करते हैं। '

महत्त्व

शंकराचार्य के विषय में कहा गया है-

अष्टवर्षेचतुर्वेदी, द्वादशेसर्वशास्त्रवित् षोडशेकृतवान्भाष्यम्द्वात्रिंशेमुनिरभ्यगात्

अर्थात् आठ वर्ष की आयु में चारों वेदों में निष्णात हो गए, बारह वर्ष की आयु में सभी शास्त्रों में पारंगत, सोलह वर्ष की आयु में शांकरभाष्य तथा बत्तीस वर्ष की आयु में शरीर त्याग दिया। ब्रह्मसूत्र के ऊपर शांकरभाष्य की रचना कर विश्व को एक सूत्र में बांधने का प्रयास भी शंकराचार्य के द्वारा किया गया है, जो कि सामान्य मानव से सम्भव नहीं है। शंकराचार्य के दर्शन में सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म दोनों का हम दर्शन कर सकते हैं। निर्गुण ब्रह्म उनका निराकार ईश्वर है तथा सगुण ब्रह्म साकार ईश्वर है। जीव अज्ञान व्यष्टि की उपाधि से युक्त है। तत्त्वमसि तुम ही ब्रह्म हो, अहं ब्रह्मास्मि मैं ही ब्रह्म हूं, 'अयामात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ही ब्रह्म है, इन बृहदारण्यकोपनिषद् तथा छान्दोग्योपनिषद् वाक्यों के द्वारा इस जीवात्मा को निराकार ब्रह्म से अभिन्न स्थापित करने का प्रयत्न शंकराचार्य जी ने किया है। ब्रह्म को जगत् के उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का निमित्त कारण बताया हैं। ब्रह्म सत् (त्रिकालाबाधित) नित्य, चैतन्य स्वरूप तथा आनंद स्वरूप है। ऐसा उन्होंने स्वीकार किया है। जीवात्मा को भी सत् स्वरूप, चैतन्य स्वरूप तथा आनंद स्वरूप स्वीकार किया है। जगत् के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि -

नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियत देश काल निमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसापि अचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभंगंयतः।

अर्थात् नाम एवं रूप से व्याकृत, अनेक कर्ता, अनेक भोक्ता से संयुक्त, जिसमें देश, काल, निमित्त और क्रियाफल भी नियत हैं। जिस जगत् की सृष्टि को मन से भी कल्पना नहीं कर सकते, उस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय जिससे होता है, उसको ब्रह्म कहते है। सम्पूर्ण जगत् के जीवों को ब्रह्म के रूप में स्वीकार करना, तथा तर्क आदि के द्वारा उसके सिद्ध कर देना, आदि शंकराचार्य की विशेषता रही है। इस प्रकार शंकराचार्य के व्यक्तित्त्व तथा कृतित्त्व के मूल्यांकन से हम कह सकते हैं कि राष्ट्र को एक सूत्र में बांधने का कार्य शंकराचार्य जी ने सर्वतोभावेन किया था। भारतीय संस्कृति के विस्तार में भी इनका अमूल्य योगदान रहा है।

तिथियाँ

आदि गुरू शंकराचार्य का जन्म केरल के कालाडी नामक ग्राम में हुआ था। वह अपने ब्राह्मण माता-पिता की एकमात्र सन्तान थे। बचपन में ही उनके पिता का देहान्त हो गया। शंकर की रुचि आरम्भ से ही संन्यास की तरफ थी। अल्पायु में ही आग्रह करके माता से संयास की अनुमति लेकर गुरु की खोज में निकल पड़े।। वेदान्त के गुरु गोविन्द नाथ से ज्ञान प्राप्त करने के बाद सारे देश का भ्रमण किया। मिथिला के प्रमुख विद्वान मण्डन मिश्र को शास्त्रार्थ में हराया। परन्तु मण्डन मिश्र की पत्नी भारती के द्वारा पराजित हुए। दुबारा फिर रति विज्ञान में पारंगत होकर भारती को पराजित किया।

उन्होनें तत्कालीन भारत में व्याप्त धार्मिक कुरीतियों को दूर कर अद्वैत वेदान्त की ज्योति से देश को आलोकित किया। सनातन धर्म की रक्षा हेतु उन्होंने भारत में चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की तथा शंकराचार्य पद की स्थापना करके उस पर अपने चार प्रमुख शिष्यों को आसीन किया। उत्तर में ज्योतिर्मठ, दक्षिण में श्रृंगेरी, पूर्व में गोवर्धन तथा पश्चिम में शारदा मठ नाम से देश में चार धामों की स्थापना की। 32 साल की अल्पायु में पवित्र केदार नाथ धाम में शरीर त्याग दिया। सारे देश में शंकराचार्य को सम्मान सहित आदि गुरु के नाम से जाना जाता है।

जीवन

एक संन्यासी बालक, जिसकी आयु मात्र 7 वर्ष थी, गुरुगृह के नियमानुसार एक ब्राह्मण के घर भिक्षा माँगने पहुँचा। उस ब्राह्मण के घर में भिक्षा देने के लिए अन्न का दाना तक न था। ब्राह्मण पत्नी ने उस बालक के हाथ पर एक आँवला रखा और रोते हुए अपनी विपन्नता का वर्णन किया। उसकी ऐसी अवस्था देखकर उस प्रेम-दया मूर्ति बालक का हृदय द्रवित हो उठा। वह अत्यंत आर्त स्वर में माँ लक्ष्मी का स्तोत्र रचकर उस परम करुणामयी से निर्धन ब्राह्मण की विपदा हरने की प्रार्थना करने लगा। उसकी प्रार्थना पर प्रसन्न होकर माँ महालक्ष्मी ने उस परम निर्धन ब्राह्मण के घर में सोने के आँवलों की वर्षा कर दी। जगत् जननी महालक्ष्मी को प्रसन्न कर उस ब्राह्मण परिवार की दरिद्रता दूर करने वाला, दक्षिण के कालाड़ी ग्राम में जन्मा वह बालक था- 'शंकर', जी आगे चलकर ''जगद्गुरु शंकराचार्य' के नाम से विख्यात हुआ। इस महाज्ञानी शक्तिपुंज बालक के रूप में स्वयं भगवान शंकर ही इस धरती पर अवतीर्ण हुए थे। इनके पिता शिवगुरु नामपुद्रि के यहाँ विवाह के कई वर्षों बाद तक जब कोई संतान नहीं हुई, तब उन्होंने अपनी पत्नी विशिष्ट देवी के साथ पुत्र प्राप्ति की कामना से दीर्घकाल तक चंद्रमौली भगवान शंकर की कठोर आराधना की। आखिर प्रसन्न होकर भगवान शंकर ने उन्हें स्वप्न में दर्शन दिए और कहा- 'वर माँगों।' शिवगुरु ने अपने ईष्ट गुरु से एक दीर्घायु सर्वज्ञ पुत्र माँगा। भगवान शंकर ने कहा- 'वत्स, दीर्घायु पुत्र सर्वज्ञ नहीं होगा और सर्वज्ञ पुत्र दीर्घायु नहीं होगा। बोलो तुम कैसा पुत्र चाहते हो?' तब धर्मप्राण शास्त्रा सेवी शिवगुरु ने सर्वज्ञ पुत्र की याचना की। औढरदानी भगवान शिव ने पुनः कहा- 'वत्स तुम्हें सर्वज्ञ पुत्र की प्राप्ति होगी। मैं स्वयं पुत्र रूप में तुम्हारे यहाँ अवतीर्ण होऊँगा।'

कुछ समय के पश्चात् वैशाख शुक्ल पंचमी (कुछ लोगों के अनुसार अक्षय तृतीया) के दिन मध्यकाल में विशिष्टादेवी ने परम प्रकाश रूप अति सुंदर, दिव्य कांतियुक्त बालक को जन्म दिया। देवज्ञ ब्राह्मणों ने उस बालक के मस्तक पर चक्र चिन्ह, ललाट पर नेत्र चिन्ह तथा स्कंध पर शूल चिन्ह परिलक्षित कर उसे शिव अवतार निरुपित किया और उसका नाम 'शंकर' रखा। इन्हीं शंकराचार्य जी को प्रतिवर्ष वैशाख शुक्ल पंचमी को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए श्री शंकराचार्य जयंती मनाई जाती है। जिस समय जगद्गुरु शंकराचार्य का आविर्भाव हुआ, उस समय भरत में वैदिक धर्म म्लान हो रहा था तथा मानवता बिसर रही

थी, ऐसे में आचार्य शंकर मानव धर्म के भास्कर प्रकाश स्तम्भ बनकर प्रकट हुए। मात्र 32 वर्ष के जीवन काल में उन्होंने सनातन धर्म को ऐसी ओजस्वी शक्ति प्रदान की कि उसकी समस्त मूर्छा दूर हो गई। शंकराचार्य जी तीन वर्ष की अवस्था में मलयालम का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। इनके पिता चाहते थे कि ये संस्कृत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करें। परंतु पिता की अकाल मृत्यु होने से शैशवावस्था में ही शंकर के सिर से पिता की छत्र-छाया उठ गई और सारा बोझ शंकर जी की माता के कंधों पर आ पड़ा। लेकिन उनकी माता ने कर्त्तव्य पालन में कमी नहीं रखी, पाँच वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत संस्कार करवाकर वेदों का अध्ययन करने के लिए गुरुकुल भेज दिया गया। ये प्रारंभ से ही प्रतिभा संपन्न थे, अतः इनकी प्रतिभा से इनके गुरु भी बेहद चकित थे। अप्रतिम प्रतिभा संपन्न श्रुतिधर बालक शंकर ने मात्र 2 वर्ष के समय में वेद, पुराण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि ग्रंथ कंठस्थ कर लिए। तत्पश्चात् गुरु से सम्मानित होकर घर लौट आए और माता की सेवा करने लगे। उनकी मातृ शक्ति इतनी विलक्षण थी कि उनकी प्रार्थना पर आलवाई (पूर्णा) नदी, जो उनके गाँव से बहुत दूर बहती थी, अपना रुख बदल कर कालाड़ी ग्राम के निकट बहने लगी, जिससे उनकी माता को नदी स्नान में सुविधा हो गई। कुछ समय बाद इनकी माता ने इनके विवाह की सोची। पर आचार्य शंकर गृहस्थी के झंझट से दूर रहना चाहते थे। एक ज्योतिषी ने जन्म-पत्री देखकर बताया भी था कि अल्पायु में इनकी मृत्यु का योग है। ऐसा जानकर आचार्य शंकर के मन में संन्यास लेकर लोक-सेवा की भावना प्रबल हो गई थी। संन्यास के लिए उन्होंने माँ से हठ किया और बालक शंकर ने 7 वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण कर लिया। फिर जीवन का उच्चतम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए माता से अनुमति लेकर घर से निकल पड़े।

आचार्य शंकर के जीवन का एक दिन-माताश्री आर्याम्बा के जीवन के अन्तिम क्षणों में उनके पास पहुँचने के लिए आचार्य शंकर वाग्वद्ध हैं। 'कालः क्रीड़ा गच्छत्यायु' सिद्धान्तानुसार यह क्षण उदित होता है। योगबल से आचार्य शंकर को इसका पूर्वाभास हो जाता है। चल देते हैं वे केरल के कालाड़ी स्थित अपने ग्राम की ओर। ग्राम सीमा में प्रवेश करते ही स्मृतियों की आंधी पूरी तरह उन्हे घेर लेती है। 'अरे, यही तो अलवाई (पूर्णा) नदी है। इसी में स्नान करते समय मुझे मगरमच्छ ने पकड़ लिया था। माताश्री से मेरे संयास की अनुज्ञा मिलनें पर ही उसने मुझे मुक्त किया था। कितनी विवशता थी अनुज्ञा देते समय उन्के

मन में। मैं उनका एकमात्र संतान। वह भी सन्यासोन्मुख। वंश शृंखला के उच्छिन्न होने की स्थिति। एकाकिनी माता की सेवा- सुश्रुवा की समस्या। फिर भी उन्होंने मुझे सन्यास की अनुमति दी। 'यही सब सोचते-सोचते पहुँच जाते हैं आचार्य अपने घर के दरवाजे पर। आचार्य की आहट पाकर गृह सेविका दरवाजा खोलती है। आचार्य सीधे पहुँचते हैं मातृ शैया के पास। संन्यासी रूप में पुत्र को देखकर माता के नेत्रों से अश्रुविन्दु ढलकने लगते है। इसी क्रम में माता का प्राणान्त हो जाता है। माताश्री के प्राण अपनें सन्यासी पुत्र की उत्कट प्रतीक्षा में ही अटके थे। इधर आँखें पुत्र का दर्शन करती हैं उधर दूसरे ही क्षण प्राण अपनी निष्कर्षण क्रिया से उनकी काया को शव का रूप दे देते हैं। आचार्य शंकर ने सन्यास की दीक्षा ली है, वे परिव्राजक हो गये हैं। शास्त्रानुसार वे अग्नि स्पर्श नहीं कर सकते। उनके सामने एक भयंकर धर्म संकट सुरसा की भांति मुँह बाये खड़ा हो जाता है। यदि वे माताश्री को मुखाग्नि देते हैं तो संन्यास धर्म से च्युत होते हैं। यदि मुखाग्नि नहीं देते तो पुत्र धर्म से विमुख होते है। कुछ समय के लिए आचार्य का संयासी चित्त उनके मन से कूदकर भाग जाता है। उसके स्थान पर सामान्य चित्त का प्रवेश हो जाता है। मातृ शव को देखकर वे एक सामान्य मानव की भांति बिलखने लगते हैं। माताश्री के हाथों को अपने हाथ में लेकर अतीत में खो जाते हैं। सोचते हैं 'इन्हीं हाथों से मेरी इतनी सेवा की थी। आज ये हाथ इतने परवश हो गये हैं। बचपन में पूर्णा नदी में वे इन्हीं हाथों से मुझे मल -मल कर नहलाती थी। खिलाते समय साथी बच्चों के साथ मैं खेलने के लिए भाग जाता था। वे मुझे दौड़कर पकड़ लाती थी और इन्हीं हाथों से खिलाती थीं। इन्हीं हाथों से वे प्रतिदिन मेंरे शरीर पर तैलमर्दन करती थीं। जब पिताश्री (शिवगुरु) का देहांत हो गया तो माताश्री मेरे मन सहारे अपना शेष जीवन बिताना चाहती थी। पर मेंरे सन्यासी होने के पश्चात वे पूरी तरह से टूट गयीं। मेरे अभाव में उनका मात्र एक ही कार्य रह गया था, मृत्यु की प्रतीक्षा। 'आचार्य शंकर अतीत से वर्तमान में उतरते हैं। इसी समय गृहसेविका उनके कान में फुसफुसाती है। माताश्री के अंत्येष्टि क्रिया में आपके नम्बूदरी परिवार के लोग भाग नहीं लेंगे। उनके असहयोग का कारण यह है कि वे आपके इस कृत्य को शास्त्र विरूद्ध और परम्परा विरूद्ध मानते हैं। कहते हैं 'संन्यासी जब गृह त्याग कर देता है तो उसका गृह प्रपंच में लौटना शास्त्र विरुद्ध है। अग्नि स्पर्श उसके लिये सर्वथा वर्जित है। हम लोग ऐसे शास्त्र विरुद्ध कार्य में आचार्य शंकर का साथ नहीं दे सकते। सेविका की बात सुनकर आचार्य एक क्षण के लिए उद्विग्न हो जाते हैं।

उनकी समझ में नहीं आता है कि अकेले वे माता का शव लेकर 'शमशान तक कैसे जायेंगे। कुछ समय के लिए वे किंकर्त्त व्यविमूढ़ हो जाते हैं। सहसा उनके मन में एक समाधान कौंधता है। 'माताश्री के शव को 'शमशान घाट पर न ले जाकर यदि गृह परिसर में ही अंत्येष्टि कर दी जाये तो इसमें क्या आपत्ति हो सकती है।' ऐसा कुछ भाव आचार्य के मन में आता है। सगोत्री लोग दूर से ही आचार्य की द्विविधा का आनन्द ले रहे हैं। विपत्ति के इन क्षणों में कोई उनका साथ नहीं देता है। अन्ततः आचार्य शंकर अपने घर के सामने ही चिता सजाते हैं। किसी तरह माता के शव को चिता पर स्थापित करते हैं। हाथ में अग्निशिखा लेकर चिता की परिक्रमा करते हुए शव को मुखाग्नि देते हैं। आचार्य गृह परिसर को ही 'शमशानघर में परिवर्तित कर देते हैं। चिता से उठी लपटों को देखकर आचार्य को लगता है जैसे अग्नि देव उनकी माता के सूक्ष्म शरीर को लेकर पित्रलोक की ओर प्रयाण कर रहे हैं। क्रमशः चिता की लपटें शान्त हो जाती हैं पर आचार्य का मन अपने सगोत्रियों के लिए खिन्न हो जाता है। सोचते हैं, इतनी भारी विपत्तियों में हमारे सगोत्रियों ने सहानुभूति का एक शब्द भी मुँह से नहीं निकाला। आचार्य शंकर की इसी मानसिकता से एक शाप शब्द होता है, 'अब इस गोत्र के लोग मेरी तरह शवदाह 'मशान घाट पर न करके अपने घर के सामने ही करेंगे।' 'मृषा न होइ देव ऋषि वाणी' सिद्धान्त के अनुसार केरल के कालाड़ी ग्राम में नंबूदरी ब्राह्मणों में आज भी शव-दाह घर के सामने ही किया जाता है।

शास्त्रार्थ

वे केरल से लंबी पदयात्रा करके नर्मदा नदी के तट पर स्थित ओंकारनाथ पहुँचे। वहाँ गुरु गोविंदपाद से योग शिक्षा तथा अद्वैत ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने लगे। तीन वर्ष तक आचार्य शंकर अद्वैत तत्त्व की साधना करते रहे। तत्पश्चात् गुरु आज्ञा से वे काशी विश्वनाथ जी के दर्शन के लिए निकल पड़े। जब वे काशी जा रहे थे कि एक चांडाल उनकी राह में आ गया। उन्होंने क्रोधित हो चांडाल को वहाँ से हट जाने के लिए कहा तो चांडाल बोला- 'हे मुनि! आप शरीरों में रहने वाले एक परमात्मा की उपेक्षा कर रहे हैं, इसलिए आप अब्राह्मण हैं। अतएव मेरे मार्ग से आप हट जायें।' चांडाल की देववाणी सुन आचार्य शंकर ने अति प्रभावित होकर कहा-'आपने मुझे ज्ञान दिया है, अतः आप मेरे गुरु हुए।' यह कहकर आचार्य शंकर ने उन्हें प्रणाम किया तो चांडाल के स्थान पर शिव तथा चार देवों के उन्हें दर्शन हुए। काशी में कुछ दिन रहने के दौरान वे माहिष्मति नगरी (बिहार

का महिषी) में आचार्य मंडन मिश्र से मिलने गए। आचार्य मिश्र के घर जो पालतू मैना थी वह भी वेद मंत्रों का उच्चारण करती थी। मिश्र जी के घर जाकर आचार्य शंकर ने उन्हें शास्त्रार्थ में हरा दिया। पति आचार्य मिश्र को हारता देख पत्नी आचार्य शंकर से बोलीं- 'महात्मन्। अभी आपने आधे ही अंग को जीता है। अपनी युक्तियों से मुझे पराजित करके ही आप विजयी कहला सकेंगे।'

तब मिश्र जी की पत्नी भारती ने कामशास्त्र पर प्रश्न करने प्रारम्भ किए। किंतु आचार्य शंकर तो बाल-ब्रह्मचारी थे, अत: काम से संबंधित उनके प्रश्नों के उत्तर कहाँ से देते? इस पर उन्होंने भारती देवी से कुछ दिनों का समय माँगा तथा पर-काया में प्रवेश कर उस विषय की सारी जानकारी प्राप्त की। इसके बाद आचार्य शंकर ने भारती को भी शास्त्रार्थ में हरा दिया। काशी में प्रवास के दौरान उन्होंने और भी बड़े-बड़े ज्ञानी पंडितों को शास्त्रार्थ में परास्त किया और गुरु पद पर प्रतिष्ठित हुए। अनेक शिष्यों ने उनसे दीक्षा ग्रहण की। इसके बाद वे धर्म का प्रचार करने लगे। वेदांत प्रचार में संलग्न रहकर उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना भी की। अद्वैत ब्रह्मवादी आचार्य शंकर केवल निर्विशेष ब्रह्म को सत्य मानते थे और ब्रह्मज्ञान में ही निमग्न रहते थे। एक बार वे ब्रह्म मुहूर्त में अपने शिष्यों के साथ एक अति सँकरी गली से स्नान हेतु मणिकर्णिका घाट जा रहे थे। रास्ते में एक युवती अपने मृत पति का सिर गोद में लिए विलाप करती हुई बैठी थी। आचार्य शंकर के शिष्यों ने उस स्त्री से अपने पति के शव को हटाकर रास्ता देने की प्रार्थना की, लेकिन वह स्त्री उसे अनसुना कर रुदन करती रही। तब स्वयं आचार्य ने उससे वह शव हटाने का अनुरोध किया। उनका आग्रह सुनकर वह स्त्री कहने लगी- 'हे संन्यासी! आप मुझसे बार-बार यह शव हटाने के लिए कह रहे हैं। आप इस शव को ही हट जाने के लिए क्यों नहीं कहते?' यह सुनकर आचार्य बोले- 'हे देवी! आप शोक में कदाचित् यह भी भूल गई कि शव में स्वयं हटने की शक्ति ही नहीं है।' स्त्रीं ने तुरंत उत्तर दिया- 'महात्मन् आपकी दृष्टि में तो शक्ति निरपेक्ष ब्रह्म ही जगत का कर्ता है। फिर शक्ति के बिना यह शव क्यों नहीं हट सकता?' उस स्त्री का ऐसा गंभीर, ज्ञानमय, रहस्यपूर्ण वाक्य सुनकर आचार्य वहीं बैठ गए। उन्हें समाधि लग गई। अंत:चक्षु में उन्होंने देखा- सर्वत्र आद्याशक्ति महामाया लीला विलाप कर रही हैं। उनका हृदय अनिवर्चनीय आनंद से भर गया और मुख से मातृ वंदना की शब्दमयी धारा स्तोत्र बनकर फूट पड़ी।

अब आचार्य शंकर ऐसे महासागर बन गए, जिसमें अद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टा द्वैतवाद, निर्गुण ब्रह्म ज्ञान के साथ सगुण साकार की भक्ति की धाराएँ एक साथ हिलोरें लेने लगीं। उन्होंने अनुभव किया कि ज्ञान की अद्वैत भूमि पर जो परमात्मा निर्गुण निराकार ब्रह्म है, वही द्वैत की भूमि पर सगुण साकार है। उन्होंने निर्गुण और सगुण दोनों का समर्थन करके निर्गुण तक पहुँचने के लिए सगुण की उपासना को अपरिहार्य सीढ़ी माना। ज्ञान और भक्ति की मिलन भूमि पर यह भी अनुभव किया कि अद्वैत ज्ञान ही सभी साधनाओं की परम उपलब्धि है। उन्होंने 'ब्रह्मं सत्यं जगन्मिथ्या' का उद्घोष भी किया और शिव, पार्वती, गणेश, विष्णु आदि के भक्तिरसपूर्ण स्तोत्र भी रचे, 'सौन्दर्य लहरी', 'विवेक चूड़ामणि' जैसे श्रेष्ठतम ग्रंथों की रचना की। प्रस्थान त्रयी के भाष्य भी लिखे। अपने अकाट्य तर्कों से शैव-शाक्त-वैष्णवों का द्वंद् समाप्त किया और पंचदेवोपासना का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने आसेतु हिमालय संपूर्ण भारत की यात्रा की और चार मठों की स्थापना करके पूरे देश को सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा भौगोलिक एकता के अविच्छिन्न सूत्र में बाँध दिया। उन्होंने समस्त मानव जाति को जीवनमुक्ति का एक सूत्र दिया-

दुर्जनः सज्जनो भूयात सज्जनः शांतिमाप्नुयातः।
शान्तो मुच्येत बंधेम्यो मुक्तः चान्यान् विमोच्येत्

अर्थात् दुर्जन सज्जन बनें, सज्जन शांति बनें। शांतजन बंधनों से मुक्त हों और मुक्त अन्य जनों को मुक्त करें। अपना प्रयोजन पूरा होने बाद तैंतीस वर्ष की अल्पायु में उन्होंने इस नश्वर देह को छोड़ दिया।

दर्शन और विचार

संक्षेप में अद्वैत मत

शंकराचार्य एक महान समन्वयवादी थे। उन्हें हिन्दू धर्म को पुनः स्थापित एवं प्रतिष्ठित करने का श्रेय दिया जाता है। एक तरफ उन्होंने अद्वैत चिन्तन को पुनर्जीवित करके सनातन हिन्दू धर्म के दार्शनिक आधार को सुदृढ़ किया, तो दूसरी तरफ उन्होंने जनसामान्य में प्रचलित मूर्तिपूजा का औचित्य सिद्ध करने का भी प्रयास किया।

आदि शंकराचार्य जी महाराज की 108 फूट की मूर्ति ओम्कारेश्वर जिला खंडवा मध्यप्रदेश में स्थापित की जा रही है।

कई यूरोपीय विद्वानों का हवाला देते हुए, Lucian Blaga समझता है कि आदि शंकराचार्य 'सबसे बड़े तत्त्वमीमांसा के विद्वान है'। आदि शंकराचार्य ने कहा कि ज्ञान के दो प्रकार होते हैं। एक पराविद्या कहा जाता है और अन्य में अपराविद्या कहा जाता है। पहला सगुण ब्रह्म (ईश्वर) होता है, लेकिन दूसरा निर्गुण ब्रह्म होता है।

शंकर के अद्वैत का दर्शन का सार

- ब्रह्म और जीव मूलत: और तत्त्वत: एक हैं। हमें जो भी अंतर नजर आता है उसका कारण अज्ञान है।
- जीव की मुक्ति के लिये ज्ञान आवश्यक है।
- जीव की मुक्ति ब्रह्म में लीन हो जाने में है।

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रभाव

रचनाएँ

अष्टोत्तरसहस्रनामावलि:
उपदेशसहस्री
चर्पटपंजरिकास्तोत्रम्
तत्त्वविवेकाख्यम्
दत्तात्रेयस्तोत्रम्
द्वादशपंजरिकास्तोत्रम्
पंचदशी
कूटस्थदीप
चित्रदीप
तत्त्वविवेक
तृप्तिदीप
द्वैतविवेक
ध्यानदीप
नाटक दीप
पंचमहाभूतविवेक
पंचकोशविवेक

ब्रह्मानन्दे अद्वैतानन्द
ब्रह्मानन्दे आत्मानन्द
ब्रह्मानन्दे योगानन्द
महावाक्यविवेक
विद्यानन्द
विषयानन्द
परापूजास्तोत्रम्
प्रपंचसार
भवान्यष्टकम्
लघुवाक्यवृत्ती
विवेकचूड़ामणि
सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार संग्रह
साधनपंचकम

भाष्य

अध्यात्म पटल भाष्य
ईशोपनिषद् भाष्य
ऐतरोपनिषद् भाष्य
कठोपनिषद् भाष्य
केनोपनिषद् भाष्य
छांदोग्योपनिषद् भाष्य
तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य
नृसिंह पूर्वतपन्युपनिषद् भाष्य
प्रश्नोपनिषद् भाष्य
बृहदारण्यकोपनिषद भाष्य
ब्रह्मसूत्र भाष्य
भगवद्गीता भाष्य
ललिता त्रिशती भाष्य
हस्तामलकीय भाष्य
मंडूकोपनिषद कारिका भाष्य
मुंडकोपनिषद भाष्य
विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र भाष्य

सनत्सुजातीय भाष्य

लघु तत्त्वज्ञान विषयक रचनाएँ

अद्वैत अनुभूति (84)
अद्वैत पंचकम् (5)
अनात्मा श्रीविगर्हण (18)
अपरोक्षानुभूति (144)
उपदेश पंचकम् किंवा साधन पंचकम् (5)
एकश्लोकी (1)
कौपीनपंचकम् (5)
जीवनमुक्त आनंदलहरी (17)
तत्त्वोपदेश(87)
धन्याष्टकम् (8)
निर्वाण मंजरी (12)
निर्वाणशतकम् (6)
पंचीकरणम् (गद्य)
प्रबोध सुधाकर (257)
प्रश्नोत्तर रत्नमालिका (67)
प्रौढ़ अनुभूति (17)
यति पंचकम् (5)
योग तरावली(?) (29)
वाक्यवृत्ति (53)
शतश्लोकी (100)
सदाचार अनुसंधानम् (55)
साधन पंचकम् किंवा उपदेश पंचकम् (5)
स्वरूपानुसंधान अष्टकम् (9)
स्वात्म निरूपणम् (153)
स्वात्म प्रकाशिका (68)
गणेश स्तुति
गणेश पंचरत्नम् (5)
गणेश भुजांगम् (9)
शिवस्तुति

कालभैरवाष्टक (10)
दशश्लोकी स्तुति (10)
दक्षिणमूर्ति अष्टकम् (10)
दक्षिणमूर्ति स्तोत्रम् (19)
दक्षिणमूर्ति वर्णमाला स्तोत्रम् (13)
मृत्युंजय मानसिक पूजा (46)
वेदसार शिव स्तोत्रम् (11)
शिव अपराधक्षमापन स्तोत्रम् (17)
शिव आनंदलहरी (100)
शिव केशादिपादान्तवर्णन स्तोत्रम् (29)
शिव नामावलि अष्टकम् (9)
शिव पंचाक्षर स्तोत्रम् (6)
शिव पंचाक्षरा नक्षत्रमालास्तोत्रम् (28)
शिव पादादिकेशान्तवर्णनस्तोत्रम् (41)
शिव भुजांगम् (4)
शिव मानस पूजा(5)
सुवर्णमाला स्तुति (50)
शक्ति स्तुति
अन्नपूर्णा अष्टकम् (8)
आनंदलहरी
कनकधारा स्तोत्रम् (18)
कल्याण वृष्टिस्तव (16)
गौरी दशकम् (11)
त्रिपुरसुंदरी अष्टकम् (8)
त्रिपुरसुंदरी मानस पूजा (127)
त्रिपुरसुंदरी वेद पाद स्तोत्रम् (10)
देवी चतु:षष्ठी उपचार पूजा स्तोत्रम् (72)
देवी भुजांगम् (28)
नवरत्न मालिका (10)
भवानी भुजांगम् (17)
भ्रमरांबा अष्टकम् (9)

मंत्रमातृका पुष्पमालास्तव (17)
महिषासुरमर्दिनी स्तोत्रम्
ललिता पंचरत्नम् (6)
शारदा भुजंगप्रयात स्तोत्रम् (8)
सौन्दर्यलहरी (100)

विष्णु एवं उनके अवतारों की स्तुति

अच्युताष्टकम् (9)
कृष्णाष्टकम् (8)
गोविंदाष्टकम् (9)
जगन्नाथाष्टकम् (8)
पांडुरंगाष्टकम् (9)
भगवन मानस पूजा (10)
मोहमुद्गार (भजगोविंदम्) (31)
राम भुजंगप्रयात स्तोत्रम् (29)
लक्ष्मीनृसिंह करावलंब (करुणरस) स्तोत्रम् (17)
लक्ष्मीनरसिंह पंचरत्नम् (5)
विष्णुपादादिकेशान्त स्तोत्रम् (52)
विष्णु भुजंगप्रयात स्तोत्रम् (14)
षट्पदीस्तोत्रम् (7)

अन्य देवताओं एवं तीर्थों की स्तुति

अर्द्धनारीश्वरस्तोत्रम् (9)
उमा महेश्वर स्तोत्रम् (13)
काशी पंचकम् (5)
गंगाष्टकम् (9)
गुरु अष्टकम् (10)
नर्मदाष्टकम् (9)
निर्गुण मानस पूजा (33)
मनकर्णिका अष्टकम् (9)
यमुनाष्टकम् (8)
यमुनाष्टकम्-2 (9)

रामानुज

रामानुजाचार्य (अंग्रेजी: Ramanuja जन्म: 1017 - मृत्यु: 1137) विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक थे। वह ऐसे वैष्णव सन्त थे जिनका भक्ति परम्परा पर बहुत गहरा प्रभाव रहा।

वैष्णव आचार्यों में प्रमुख रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में ही रामानन्द हुए जिनके शिष्य कबीर और सूरदास थे। रामानुज ने वेदान्त दर्शन पर आधारित अपना नया दर्शन विशिष्ट अद्वैत वेदान्त लिखा था।

रामानुजाचार्य ने वेदान्त के अलावा सातवीं-दसवीं शताब्दी के रहस्यवादी एवं भक्तिमार्गी आलवार सन्तों के भक्ति-दर्शन तथा दक्षिण के पंचरात्र परम्परा को अपने विचारों का आधार बनाया।

संक्षिप्त जीवनी

1017 ईस्वी सन् में रामानुज का जन्म दक्षिण भारत के तमिल नाडु प्रान्त में हुआ था। बचपन में उन्होंने कांची जाकर अपने गुरू यादव प्रकाश से वेदों की शिक्षा ली। रामानुजाचार्य आलवार सन्त यमुनाचार्य के प्रधान शिष्य थे। गुरु की इच्छानुसार रामानुज से तीन विशेष काम करने का संकल्प कराया गया था - ब्रह्मसूत्र, विष्णु सहस्त्रनाम और दिव्य प्रबन्धम् की टीका लिखना। उन्होंने गृहस्थ आश्रम त्याग कर श्रीरंगम् के यतिराज नामक संयासी से सन्यास की दीक्षा ली।

मैसूर के श्रीरंगम् से चलकर रामानुज शालिग्राम नामक स्थान पर रहने लगे। रामानुज ने उस क्षेत्र में बारह वर्ष तक वैष्णव धर्म का प्रचार किया। उसके बाद तो उन्होंने वैष्णव धर्म के प्रचार के लिये पूरे भारतवर्ष का ही भ्रमण किया। 1137 ईस्वीं सन् में 120 वर्ष की आयु पूर्ण कर वे ब्रह्मलीन हुए।

उन्होंने यूँ तो कई ग्रन्थों की रचना की किन्तु ब्रह्मसूत्र के भाष्य पर लिखे उनके दो मूल ग्रन्थ सर्वाधिक लोकप्रिय हुए - श्रीभाष्यम् एवं वेदान्त संग्रहम्।

विशिष्टाद्वैत दर्शन

रामानुजाचार्य के दर्शन में सत्ता या परमसत् के सम्बन्ध में तीन स्तर माने गये हैं - ब्रह्म अर्थात् ईश्वर, चित् अर्थात् आत्म तत्त्व और अचित् अर्थात् प्रकृति तत्त्व।

वस्तुत: ये चित् अर्थात् आत्म तत्त्व तथा अचित् अर्थात् प्रकृति तत्त्व ब्रह्म या ईश्वर से पृथक् नहीं है बल्कि ये विशिष्ट रूप से ब्रह्म के ही दो स्वरूप हैं

एवं ब्रह्म या ईश्वर पर ही आधारित हैं। वस्तुत: यही रामनुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त है।

जैसे शरीर एवं आत्मा पृथक् नहीं हैं तथा आत्म के उद्देश्य की पूर्ति के लिये शरीर कार्य करता है उसी प्रकार ब्रह्म या ईश्वर से पृथक् चित् एवं अचित् तत्त्व का कोई अस्तित्त्व नहीं हैं। वे ब्रह्म या ईश्वर का शरीर हैं तथा ब्रह्म या ईश्वर उनकी आत्मा सदृश्य हैं।

भक्ति से तात्पर्य

रामानुज के अनुसार भक्ति का अर्थ पूजा-पाठ या कीर्तन-भजन नहीं बल्कि ध्यान करना या ईश्वर की प्रार्थना करना है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य से रामानुजाचार्य ने भक्ति को जाति एवं वर्ग से पृथक् तथा सभी के लिये सम्भव माना है।

बसव

गुरु बसव (कन्नड़:) या बसवेश्वर (कन्नड़:), (1134-1196)) एक दार्शनिक और सामाजिक सुधारक थे। उन्होने हिंदू धर्म में जाति व्यवस्था और अनुष्ठान के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्हें विश्व गुरु और भक्ति भंडारी भी कहा जाता है। अपनी शिक्षाओं और preachings सभी सीमाओं से परे जाना यह हैं सार्वभौमिक और अनन्त है। वह एक महान मानवीय था। गुरु बसवन्ना जिसमें परमात्मा अनुभव जीवन लिंग, जाति और सामाजिक स्थिति की परवाह किए बिना सभी को समान अवसर देने का केंद्र था जीवन की एक नई तरह की वकालत की।

प्रारंभिक जीवन

गुरु बसवन्ना वर्ष 1134 (हिंदू कैलेंडरAnanada नाम samvatsara vashakah masada akshaya triteeya रोहिणी नक्षत्र) Ingaleshwar के छोटे से शहर में रहने वाले एक शैव Kamme ब्राह्मण परिवार में पैदा हुआ था, Bagewadi उत्तरी कर्नाटक, गुरु बसवन्नाबीजापुर जिले में पले एक सख्त, धार्मिक घर जहां वह एक पवित्र धागा जाना जाता है के रूप में Janivar पहनने के लिए बनाया गया था। उन्होंने Janivara को स्वीकार नहीं किया। वह अस्वीकार कर दिया धर्म के आधार पर agamas, शास्त्रों और नियमपूर्वक जो

संस्कृत में लिखा गया था और आम लोगों के लिए पहुँच से बाहर नहीं थे। उन्होनें संस्कार के अनुष्ठान को स्वीकार नहीं किया।

माध्वाचार्य

माध्वाचार्य (तुलु :) (1238–1317) भारत में भक्ति आन्दोलन के समय के सबसे महत्वपूर्ण दार्शनिकों में से एक थे। वे पूर्णप्रज्ञ व आनन्दतीर्थ के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। वे तत्त्ववाद के प्रवर्तक थे जिसे द्वैतवाद के नाम से जाना जाता है। द्वैतवादं, वेदान्त की तीन प्रमुख दर्शनों में एक है। माध्वाचार्य को वायु का तृतीय अवतार माना जाता है (हनुमान और भीम क्रमशः प्रथम व द्वितीय अवतार थे)।

माध्वाचार्य कई अर्थों में अपने समय के अग्रदूत थे, वे कई बार प्रचलित रीतियों के विरुद्ध चले गये हैं। उन्होंने द्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया। इन्होंने द्वैत दर्शन के ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा और अपने वेदांत के व्याख्यान की तार्किक पुष्टि के लिये एक स्वतंत्र ग्रंथ 'अनुव्याख्यान' भी लिखा। श्रीमद्भगवद्गीता और उपनिषदों पर टीकाएँ, महाभारत के तात्पर्य की व्याख्या करने वाला ग्रंथ महाभारततात्पर्यनिर्णय तथा श्रीमद्भागवतपुराण पर टीका ये इनके अन्य ग्रंथ है। ऋग्वेद के पहले चालीस सूक्तों पर भी एक टीका लिखी और अनेक स्वतंत्र प्रकरणों में अपने मत का प्रतिपादन किया। ऐसा लगता है कि ये अपने मत के समर्थन के लिये प्रस्थानत्रयी की अपेक्षा पुराणों पर अधिक निर्भर हैं।

जीवन परिचय

इनका जन्म दक्षिण कन्नड़ जिले के उडुपी शिवल्ली नामक स्थान के पास पाजक नामक एक गाँव में सन् 1238 ई. में हुआ। अल्पावस्था में ही ये वेद और वेदांगों के अच्छे ज्ञाता हुए और संन्यास लिया। पूजा, ध्यान, अध्ययन और शास्त्रचर्चा से इन्होंने संन्यास ले लिया। शंकर मत के अनुयायी अच्युतप्रेक्ष नामक आचार्य से इन्होंने विद्या ग्रहण की और गुरु के साथ शास्त्रार्थ कर इन्होंने अपना एक अलग मत बनाया जिसे 'द्वैत दर्शन' कहते हैं। इनके अनुसार विष्णु ही परमात्मा हैं। रामानुज की तरह इन्होंने श्री विष्णु के आयुधों, शंख, चक्र, गदा और पद्म के चिन्हों से अपने अंगों को अलंकृत करने की प्रथा का समर्थन किया। देश के विभिन्न भागों में इन्होंने अपने अनुयायी बनाए। उडुपी में श्रीकृष्ण के मंदिर का स्थापन किया, जो उनके सारे अनुयायियों के लिये तीर्थस्थान बन गया।

यज्ञों में पशुबलि बन्द कराने का सामाजिक सुधार इन्हीं की देन है। 79 वर्ष की अवस्था (सन् 1317 ई) में इनका देहावसान हुआ।

नारायण पंडिताचार्य कृत सुमध्वविजय और मणिमंजरी नामक ग्रन्थों में माध्वाचार्य की जीवनी और कार्यों का पारम्परिक वर्णन मिलता है। परन्तु ये ग्रन्थ आचार्य के प्रति लेखक के श्रद्धालु होने के कारण अतिरंजना, चमत्कार और अविश्वसनीय घटनाओं से पूर्ण हैं, अत: इनके आधार पर माध्वाचार्य के जीवन के सम्बन्ध में कोई यथातथ्य विवरण नहीं उपस्थित किया जा सकता।

दर्शन

श्री माध्वाचार्य ने प्रस्थानत्रयी ग्रंथों से अपने द्वैतवाद सिद्धान्त का विकास किया। इसे सद्वैष्णवे भी कहा जाता है, क्योंकि यह श्री रामानुजाचार्य के श्री वैष्णवत्व से अलग है।

श्री माध्वाचार्य ने पंच भेद का अध्ययन किया, जो अत्यन्त भेद दर्शनम् भी कहा जाता है। उसकी पांच विशेषतायें हैं–

(क) भगवान और व्यक्तिगत आत्मा की पृथक्ता,

(ख) परमात्मा और पदार्थ की पृथक्ता,

(ग) जीवात्मा एवं पदार्थ की पृथक्ता,

(घ) एक आत्मा और दूसरी आत्मा में पृथक्ता तथा

(ङ) एक भौतिक वस्तु और अन्य भौतिक वस्तु में पृथकता।

अत्यन्त भेद दर्शनम् का वर्गीकरण पदार्थ रूप में इस प्रकार भी किया गया है–

(अ) स्वतंत्र

(आ) आश्रित

स्वतंत्र वह है, जो पूर्ण रूपेण स्वतंत्र है। जो भगवान या सनातन सत्य है। लेकिन जीवात्मा और जगत् भगवान पर आश्रित हैं। इसलिये भगवान उनका नियंत्रण करते हैं। परमात्मा स्वतंत्र हैं। इसलिए उनका वर्गीकरण असम्भव है। आश्रित तत्त्व सकारात्मक एवं नकारात्मक रूप में विभाजित किये जाते हैं। सकारात्मक को भी चेतन (जैसे आत्मा) और अचेतन (जैसे वे पदार्थ) में वर्गीकृत किया जा सकता है।

अचेतन तत्त्व को परिभाषित करने के पहले माध्वाचार्य स्वतंत्र और आश्रित के बारे में बताते हैं, जो संसार से नित्य मुक्त हैं। इस विचारधारा के अनुसार

विष्णु स्वतंत्र हैं, जो विवेकी और संसार के नियन्ता हैं। उनकी शक्ति लक्ष्मी हैं, जो नित्य मुक्त हैं। कई व्यूहों एवं अवतारों के रूपों में हम विष्णु को पा सकते हैं (उन तक पहुँच सकते हैं)। उसी प्रकार अत्यन्त आश्रित लक्ष्मी भी विष्णु की शक्ति हैं और नित्य भौतिक शरीर लिये ही कई रूप धारण कर सकती हैं। वह दुख-दर्द से परे हैं। उनके पुत्र ब्रह्मा और वायु हैं, प्रकृति शब्द प्र = परे. कृति = सृष्टि का संगम है।

माध्वाचार्य ने सृष्टि और ब्रह्म को अलग माना है। उनके अनुसार विष्णु भौतिक संसार के कारण कर्ता हैं। भगवान प्रकृति को लक्ष्मी द्वारा सशक्त बनाते हैं और उसे दृश्य जगत में परिवर्तित करते हैं। प्रकृति भौतिक वस्तु, शरीर एवं अंगों का भौतिक कारण है। प्रकृति के तीन पहलुओं से तीन शक्तियाँ आविर्भूत हैं : लक्ष्मी, भू (सरस्वती-धरती) और दुर्गा। अविद्या (अज्ञान) भी प्रकृति का ही एक रूप है, जो परमात्मा को जीवात्मा से छिपाती है।

माध्वाचार्य जी का विश्वास है कि प्रकृति से बनी धरती माया नहीं, बल्कि परमात्मा से पृथक् सत्य है। यह दूध में छिपी दही के समान परिवर्तन नहीं है, न ही परमात्मा का रूप है। इसलिए यह अविशेष द्वैतवाद ही है।

माध्वाचार्य जी ने रामानुजाचार्य के आत्माओं का वर्गीकरण को स्वीकार किया। जैसे--

(क) नित्य - सनातन (लक्ष्मी के समान)

(ख) मुक्त - देवता, मनुष्य, षि, सन्त और महान व्यक्ति

(ग) बद्ध - बँधे व्यक्ति

माध्वाचार्य ने इनके साथ और दो वर्ग को जोड़ा जो मोक्ष के योग्य है और जो मोक्ष के योग्य नहीं है–

1. पूर्ण समर्पित लोग, बद्ध भी मोक्ष के लिए योग्य हैं।

2. जो मोक्ष के लिए योग्य नहीं हैं। वे हैं–

(क) नित्य संसारी : सांसारिक चक्र में बद्ध।

(ख) तमोयोग्य : जिन्हें नरक जाना है।

इस वर्गीकरण के अनुसार जीवात्मा का एक अलग अस्तित्त्व है। इस प्रकार एक आत्मा दूसरी आत्मा से भिन्न होती हैं। इसका अर्थ आत्मा अनेक हैं। जीवात्मा परमात्मा एवं प्रकृति से भिन्न होने से परमात्मा के निर्देश पर आश्रित है। उनके पिछले जन्मों के आधार (कर्मों) पर परमात्मा उन्हें प्रेरित करते हैं। पिछले कर्मों के अनुसार जीवात्मा कष्ट झेलते हैं, जिससे उनकी आत्मा पवित्र हो जाती है और

जीवन-मरण से मुक्त होकर आनन्द का अनुभव करती हैं, जो आत्मा की सहजता है। आनन्दानुभूति में जीवात्मा भिन्न होती है। लेकिन उनमें कोई वैमनस्य नहीं होता और वे पवित्र होकर परब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन वे परमात्मा के बराबर नहीं हो सकतीं। वे परमात्मा की सेवा के लायक हो जाती हैं। नवधा भक्ति मार्ग से आत्मा परमात्मा की कृपा से मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

कृतियाँ

ब्रह्मसूत्रभाष्यम्
अणुभाष्यम् (सर्वशास्त्रर्थसंग्रहः)
अनुव्याख्यानम्
न्यायविवरणम्
गीताभाष्यम्
गीतातात्पर्यम् (गीतातात्पर्यनिर्णयः)
दशोपनिषद्भाष्यम्
ऋग्भाष्यम्
महाभारततात्पर्यनिर्णयः
भागवततात्पर्यनिर्णयः
यमकभारतम्
उपाधिखण्डनम्
मायावादखण्डनम्
प्रपंचमिथ्यात्वानुमानखण्डनम्
तत्त्वोद्योतः
विष्णुतत्त्वविनिर्णयः
तत्त्वविवेकः
तत्त्वसांख्यानम्
कर्मनिर्णयः
कथालक्षणम्
प्रमाणलक्षणम्
तन्त्रसारसंग्रहः
द्वादशस्तोत्रम्
कृष्णामृतमहार्णवः
सदाचारस्मृतिः

जयन्तीनिर्णय:
यतिप्रणवकल्प:
न्यासपद्धति:
तिथिनिर्णय:
कन्दुकस्तुति:
नरसिंहनखस्तुति:

शिष्य

माध्वाचार्य से प्रभावित शिष्य अनेकों हैं।
पद्मनाभतीर्थ:
नरहरितीर्थ:
माधवतीर्थ:
अक्षोभ्यतीर्थ:
उडुपीक्षेत्र के अष्टमठों के मूलयति (नाम)
हृषीकेशतीर्थ: (पलिमारु मठ)
नरसिंहतीर्थ: (आदमारु मठ)
जनार्दनतीर्थ: (कृष्णापुर मठ)
उपेन्द्रतीर्थ: (पुत्तिगे मठ)
वामनतीर्थ: (शीरूरु मठ)
विष्णुतीर्थ: (सोदे मठ)
श्रीरामतीर्थ: (काणियूरु मठ)
अधोक्षजतीर्थ: (पेजावर मठ)

नामदेव

श्री नामदेव जी भारत के प्रसिद्ध संत हैं। विश्व भर में उनकी पहचान 'संत शिरोमणि' के रूप में जानी जाती है। इनके समय में नाथ और महानुभाव पंथों का महाराष्ट्र में प्रचार था।

संत शिरोमणि श्री नामदेवजी का जन्म 'पंढ़रपुर', महाराष्ट्र (भारत) में '26 अक्टूबर, 1270, कार्तिक शुक्ल एकादशी संवत् 1327, रविवार' को सूर्योदय के समय हुआ था। महाराष्ट्र के सातारा जिले में कृष्णा नदी के किनारे बसा 'नरसी बामणी गाँव, जिला परभणी उनका पैतृक गांव है।' संत शिरोमणि श्री नामदेव जी

का जन्म 'शिम्पी' (मराठी), जिसे राजस्थान में 'छीपा' भी कहते हैं, परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम दामा और माता का नाम गोणाई (गोणा बाई) था। इनका परिवार भगवान विट्ठल का परम भक्त था। नामदेवजी का विवाह कल्याण निवासी राजाई (राजा बाई) के साथ हुआ था और इनके चार पुत्र व पुत्रवधु यथा 'नारायण - लाड़ाबाई', 'विट्ठल - गोडाबाई', 'महादेव - येसाबाई', व 'गोविन्द - साखराबाई' तथा एक पुत्री थी जिनका नाम लिम्बाबाई था। श्री नामदेव जी की बड़ी बहन का नाम आऊबाई था। उनके एक पौत्र का नाम मुकुन्द व उनकी दासी का नाम 'संत जनाबाई' था, जो संत नामदेवजी के जन्म के पहले से ही दामाशेठ के घर पर ही रहती थी। संत शिरोमणि श्री नामदेवजी के नानाजी का नाम गोमाजी और नानीजी का नाम उमाबाई था।

संत नामदेवजी ने विसोबा खेचर को गुरु के रूप में स्वीकार किया था। विसोबा खेचर का जन्म स्थान पैठण था, जो पंढ़रपुर से पचास कोस दूर 'ओंढ्या नागनाथ' नामक प्राचीन शिव क्षेत्र में हैं। इसी मंदिर में इन्होंने संत शिरोमणि श्री नामदेव जी को शिक्षा दी और अपना शिष्य बनाया। संत नामदेव, संत ज्ञानेश्वर के समकालीन थे और उम्र में उनसे 5 साल बड़े थे। संत नामदेव, संत ज्ञानेश्वर, संत निवृत्तिनाथ, संत सोपानदेव इनकी बहिन मुक्ताबाई व अन्य समकालीन संतों के साथ पूरे महाराष्ट्र के साथ उत्तर भारत का भ्रमण कर 'अभंग'(भक्ति-गीत) रचे और जनता जनार्दन को समता और प्रभु-भक्ति का पाठ पढ़ाया। संत ज्ञानेश्वर के परलोकगमन के बाद दूसरे साथी संतों के साथ इन्होंने पूरे भारत का भ्रमण किया। इन्होंने मराठी के साथ-साथ हिन्दी में भी रचनाएँ लिखीं। इन्होंने लगभग अठारह से बीस वर्षों तक पंजाब में भगवन्नाम का प्रचार किया। अभी भी इनकी कुछ रचनाएँ सिक्खों की धार्मिक पुस्तक 'गुरु ग्रंथ साहिब' में मिलती हैं। इसमें संत नामदेव जी के 61पद संग्रहित हैं। आज भी इनके रचित अभंग पूरे महाराष्ट्र में भक्ति और प्रेम के साथ गाए जाते हैं। ये संवत् 1407 में समाधि में लीन हो गए।

सन्त नामदेव जी के समय में नाथ और महानुभाव पंथों का महाराष्ट्र में प्रचार था। नाथ पंथ 'अलख निरंजन' की योगपरक साधना का समर्थक तथा बाह्याडंबरों का विरोधी था और महानुभाव पंथ वैदिक कर्मकांड तथा बहुदेवोपासना का विरोधी होते हुए भी मूर्तिपूजा को सर्वथा निषिद्ध नहीं मानता था। इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र में पंढ़रपुर के 'विठोबा' की उपासना भी प्रचलित थी। संत नामदेव जी पंढ़रपुर में वारी प्रथा शुरू करवाने के जनक हैं। इनके द्वारा शुरू की

गई प्रथा के अंतर्गत आज भी सामान्य जनता प्रतिवर्ष आषाढ़ी और कार्तिकी एकादशी को उनके दर्शनों के लिए पंढ़रपुर की 'वारी' (यात्रा) किया करती थी (यह प्रथा आज भी प्रचलित है), इस प्रकार की वारी (यात्रा) करने वाले 'वारकरी' कहलाते हैं। विट्ठलोपासना का यह 'पंथ' 'वारकरी' संप्रदाय कहलाता है। श्री नामदेव इसी संप्रदाय के प्रमुख संत माने जाते हैं।

नामदेव जी का कालनिर्णय

वारकरी संत नामदेव के समय के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। मतभेद का कारण यह है कि महाराष्ट्र में नामदेव नामक पाँच संत हो गए हैं और उन सब ने थोड़ी बहुत 'अभंग' और पद रचना की है। आवटे की 'सकल संतगाथा' में नामदेव के नाम पर 2500 अभंग मिलते हैं। लगभग 600 अभंगों में केवल नामदेव या 'नामा' की छाप है और शेष में 'विष्णुदासनामा' की।

कुछ विद्वानों के मत से दोनों 'नामा' एक ही हैं। विष्णु (विठोबा) के दास होने से नामदेव ने ही संभवत: अपने को विष्णुदास 'नामा' कहना प्रारंभ कर दिया हो। इस संबध में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध इतिहासकार वि. का. राजवाड़े का कथन है कि 'नामा' शिंपी '(छीपा)' का काल शके 1192 से 1272 तक है। विष्णुदासनामा का समय शके 1517 है। यह एकनाथ के समकालीन थे। प्रो. रानाडे ने भी राजवाड़े के मत का समर्थन किया है। श्री राजवाड़े ने विष्णुदास नामा की 'बावन अक्षरी' प्रकाशित की है, जिसमें 'नामदेवराय' की वंदना की गई है। इससे भी सिद्ध होता है कि ये दोनों व्यक्ति भिन्न हैं और भिन्न-भिन्न समय में हुए हैं। चांदोरकर ने महानुभावी 'नेमदेव' को भी वारकरी नामदेव के साथ जोड़ दिया है। परंतु डॉ. तुलपुले का कथन है कि यह भिन्न व्यक्ति है और कोली जाति का है। इसका वारकरी नामदेव से कोई संबंध नहीं है। नामदेव के समसामयिक एक विष्णुदास नामा कवि का और पता चला है पर यह महानुभाव संप्रदाय के हैं। इन्होंने महाभारत पर ओवीबद्ध ग्रंथ लिखा है। इसका वारकरी नामदेव से कोई संबंध नहीं है।

नामदेव विषयक एक और विवाद है। 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में नामदेव के 61 पद संग्रहित हैं। महाराष्ट्र के कुछ विवेचकों की धारणा है कि गुरुग्रंथ साहब के 'नामदेव' पंजाबी हैं, महाराष्ट्रीय नहीं। यह हो सकता है, वह महाराष्ट्रीय वारकरी नामदेव का कोई शिष्य रहा हो और उसने अपने गुरु के नाम पर हिन्दी में पद रचना की हो। परंतु महाराष्ट्रीय वारकरी नामदेव ही के हिंदी पद गुरुग्रंथ साहब

में संकलित हैं, क्योंकि नामदेव के मराठी अभंगों और गुरुग्रंथ साहब के पदों में जीवन घटनाओं तथा भावों, यहाँ तक कि रूपक और उपमाओं की समानता है। अत: मराठी अभंगकार नामदेव और हिंदी पदकार नामदेव एक ही सिद्ध होते हैं।

महाराष्ट्रीयन विद्वान् वारकरी नामदेव जी को ज्ञानेश्वर का समसामयिक मानते हैं और ज्ञानेश्वर का समय उनके ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी' से प्रमाणित हो जाता है। ज्ञानेश्वरी में उसका रचनाकाल '1212 शके' दिया हुआ है। डॉ. मोहनसिंह दीवाना नामदेव के काल को खींचकर 14वीं और 15वीं शताब्दी तक ले जाते हैं। परंतु उन्होंने अपने मत समर्थन का कोई अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। नामदेव की एक प्रसिद्ध रचना 'तीर्थावली' है जिसकी प्रामाणिकता निर्विवाद है। उसमें ज्ञानदेव और नामदेव की सहयात्राओं का वर्णन है, अत: ज्ञानदेव और नामदेव का समकालीन होना साक्ष्य से भी सिद्ध है। नामदेव, ज्ञानेश्वर की समाधि के लगभग 55 वर्ष बाद तक और जीवित रहे। इस प्रकार नामदेव का काल शके 1192 से शके 1272 तक माना जाता है।

जीवन चरित्र

नामदेव जी का जन्म 26 अक्टूबर 1270, रविवार में प्रथम संवत्सर, संवत् 1327, कार्तिक शुक्ल एकादशी को पंढ़रपुर में हुआ था। नामदेव जी का पैतृक गाँव नरसी ब्राह्मणी नामक ग्राम था। नरसी ब्राह्मणी के मूल निवासी दामा शेठ की जाति 'शिम्पी'(मराठी में) हैं, जिसे राजस्थान में 'छीपा' व उत्तरी भारत में 'छीपी' कहते है, के यहाँ पंढ़रपुर में हुआ था। दामाशेठ और उसकी पत्नी जो कि बुजुर्ग थे, ने बच्चे के लिये पूजा अर्चना की तो उनको विट्ठल के आशीर्वाद से पंढ़रपुर में पुत्र की प्राप्ति हुई। किशोरावस्था में पंढरपुर में ही इनकी ज्ञानेश्वरजी से भेंट हुई और उनकी प्रेरणा से इन्होंने नाथपंथी विसोबा खेचर से दीक्षा ली। जो नामदेव पंढ़रपुर के 'विट्ठल' की प्रतिमा में ही भगवान को देखते थे, वे खेचर के संपर्क में आने के बाद उसे सर्वत्र अनुभव करने लगे। उनकी प्रेमाभक्ति में ज्ञान का समावेश हो गया। डॉ. मोहनसिंह, 'नामदेव' को रामानंद का शिष्य बतलाते हैं। परन्तु महाराष्ट्र में इनकी बहुमान्य गुरु परंपरा इस प्रकार है – ज्ञानेश्वर जी और नामदेव जी ने उत्तर भारत की साथ-साथ यात्रा की थी। ज्ञानेश्वर मारवाड़ में कोलायत (बीकानेर) नामक स्थान तक ही नामदेव जी के साथ गए थे। वहाँ से लौटकर ज्ञानेश्वरजी ने 'आळंदी' में शके 1218 में समाधि ले ली। ज्ञानेश्वर के वियोग से नामदेव जी का मन महाराष्ट्र से उचट गया और ये पंजाब

की ओर चले गए। गुरुदासपुर जिले के 'घुमान' नामक स्थान पर आज भी नामदेव जी का मंदिर गुरु द्वारा विद्यमान है। वहाँ सीमित क्षेत्र में इनका 'पंथ' भी चल रहा है। संतों के जीवन के साथ कतिपय चमत्कारी घटनाएँ जुड़ी रहती है। नामदेव के चरित्र में भी सुल्तान की आज्ञा से इनका मृत गाय को जिलाना, पूर्वाभिमुख भगवान जगमोहन जी(कृष्ण) मंदिर के सामने कीर्तन करने पर पूजारी के आपत्ति उठाने के उपरांत इनके पश्चिम की ओर जाते ही उसके द्वार का पश्चिमाभिमुख हो जाना, घटना राजस्थान के पाली जिले में मारवाड़ के पास 'बारसा' नामक गाँव में कृष्ण भगवान जिन्हें स्थानीय लोग भगवान जगमोहन जी कहते हैं, के पौराणिक मंदिर की घटना का वृतांत भी मिलता हैं। इसका उल्लेख 'हंसनिर्वाणी संत मोहनानंदजी महाराज' द्वारा अपनी हस्तलिखित पुस्तक में किया हैं, जिस पर शोध कर पाली के 'गुड़ाएन्दला गाँव' निवासी ''छीपा श्री अशोक आर.गहलोत, अहमदाबाद' ने सैद्धांतिक व प्रायोगिक प्रमाणों के साथ 'सन् 2003' में उजागर किया। जहां 'नामदेव भक्ति संप्रदाय संघ' के प्रणेता ह.भ.प. श्री रामकृष्ण जगन्नाथ बगाडे महाराज, पुणे ने राष्ट्रीय, स्तर का अधिवेशन कर इस स्थान की पुष्टि सन् 2005 में की) विट्ठल की मूर्ति का इनके हाथ दुग्धपान करना, आदि घटनाएँ समाविष्ट हैं। महाराष्ट्र के पंढ़रपुर स्थित विट्ठल मंदिर के महाद्वार पर शके 1272 में परिवार के एक सदस्य(बड़े बेटे की बहू) को छोड़कर संजीवन ने समाधि ले ली। कुछ विद्वान् इनका समाधि स्थान घुमान मानते हैं, परंतु बहुमत पंढ़रपुर के ही पक्ष में हैं।

संत नामदेव जी की यात्राओं के समय उनके साथ श्री निवृत्तिनाथ, श्री सोपानदेव, श्री ज्ञानेश्वर, बहिन मुक्ताबाई, श्री चोखा मेला (नामदेव जी के शिष्य - जाती से धेड़ - गांव मंगलवेढा), सांवता माली (गांव - आरण मेंढी), नरहरि सुनार (गांव - पंढरपुर) थे। संत शिरोमणि के प्रधान शिष्यों में संत जनाबाई (जो दामाशेठ के घर सेविका थी), परिसा भागवत (जिन्होंने प्रथम दीक्षा ग्रहण की थी), चोखामेला, केशव कलाधारी, लड्ढा, बोहरदास, जल्लो, विष्णुस्वामी, त्रिलोचन आदि थे, जिनके सामीप्य में उनके जीवन काल में भक्ति रस की सरिता बह निकली, जो आज भी अनवरत जारी है।

संत नामदेव जी घुमान (पंजाब) प्रवास के समय अपनी मण्डली के साथ मारवाड़ जंक्शन के पास 'बारसा' गांव स्थित कृष्ण मंदिर, भगवान जगमोहन जी के मंदिर में रात्रि विश्राम के लिए रुके थे। जहां संत मंडली ने रात में विट्ठल का कीर्तन शुरू किया था। संत नामदेव अपने प्रभु श्री विट्ठल के साथ इस कदर

कीर्तन में तल्लीन हो गए कि कब भौर हुई पता ही नहीं चला। प्रात:काल मंदिर के ब्राह्मण पुजारी पूजा के लिए मंदिर प्रवेश कर रहे थे तो उन्हें पता चला कि कोई मराठी संत मंदिर के अहाते में नाच रहा हैं। मंदिर प्रवेश के लिए रास्ता नहीं मिला तो पुजारी ने गुस्से से नामदेव जी को प्रताड़ित कर मंदिर के पीछे जाकर अपना कीर्तन करने का आदेश दे दिया तो वे मंदिर के पीछे बैठकर दु:खी व अपमानित महसूस कर अपने आराध्य कृष्ण का करूणामयी पुकार से कीर्तन करने लगे। भक्त के आर्तनाद को महसूस कर प्रभु जगमोहन जी ने अपने पूरे मंदिर को ही पूर्व से पश्चिम की ओर घुमा दिया जहां उसका परम भक्त बैठा था। जिसका प्रमाण आज भी इस मंदिर में मौजूद हैं। जहां भक्त नामदेव व भगवान कृष्ण(जगमोहन जी) एक ही आधार पर समकक्ष विराजमान हैं। ऐसा अनोखा दृश्य इतिहास में कहीं नहीं मिलता, जैसा आज 'बारसाधाम' (मारवाड़ जंक्शन) राजस्थान में देखने को मिलता है। भगवान जगमोहन जी (ठाकुरजी) ने अपने प्रिय भक्त श्री नामदेव जी को सम्पूर्ण मंदिर सहित घूमकर दर्शन दिए। इस स्थल की जानकारी स्थानीय संतों ने अपने अपने जीवनकाल में दी हैं। हँसनिर्वाणी ब्रह्मलीन संत श्री मोहनानंद जी महाराज की पुस्तक 'संत नामदेव जी एवं छीपा जाति का इतिहास' पर शोध करने वाले 'छीपा अशोक आर. गहलोत, गुड़ाएन्दला' ने इसे सन् 2004 में 'राजस्थान का पंढ़रपुर' बारसाधाम नाम दिया, जिसे संत ह.भ.प. रामकृष्ण बगाडे जी ने सन् 2005 में अपने कार्यक्रम में इस नाम पर मोहर लगाई। आज ये स्थान 'राजस्थान का पंढ़रपुर' कहा जाता है। इस बात की पुष्टि इतिहासविद् और 'बारसाधाम के खोजकर्ता छीपा श्री अशोक आर. गहलोत, गुड़ाएन्दला, जिला पाली, राजस्थान ने समय-समय पर छीपा जाति को अवगत कराई है।

नामदेव जी के मत

बिसोबा खेचर से दीक्षा लेने के पूर्व तक ये सगुणोपासक थे। पंढ़रपुर के विट्ठल (विठोबा) की उपासना किया करते थे। दीक्षा के उपरांत इनकी विट्ठलभक्ति सर्वव्यापक हो गई। महाराष्ट्रीय संत परंपरा के अनुसार इनकी निर्गुण भक्ति थी, जिसमें सगुण-निर्गुण का काई भेदभाव नहीं था। उन्होंने मराठी में कई सौ अभंग और हिंदी में सौ के लगभग पद रचे हैं। इनके पदों में हठयोग की कुंडलिनी-योग-साधना और प्रेमाभक्ति की (अपने 'राम' से मिलने की) 'तालाबेली' (विह्वलभावना) दोनों हैं। निर्गुणी कबीर के समान नामदेव में भी

व्रत, तीर्थ आदि बाह्याडंबर के प्रति उपेक्षा तथा भगवन्नाम एवं सतगुरु के प्रति आदर भाव विद्यमान है। कबीर के पदों में यत्र-तत्र नामदेव की भावछाया दृष्टिगोचर होती है। कबीर से पूर्व नामदेव ने उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति का प्रचार किया, जो निर्विवाद है।

परलोक गमन

आपने तीन बार तीर्थ यात्राएं की व साधु संतों के साथ भ्रमण करते रहे। ज्यों-ज्यों आपकी आयु बढ़ती गई, त्यों-त्यों आपका यश फैलता गया। आपने दक्षिण में बहुत प्रचार किया। आपके साथी संत ज्ञानेश्वर जी परलोक गमन कर गए तो आप भी कुछ उपराम रहने लग गए। जीवन के अंतिम दिनों में श्री नामदेव जी पुनः पंढ़रपुर आ गए और 3 जुलाई सन् 1350 शनिवार को सपरिवार 'संजीवन समाधी' लेकर मोक्ष प्राप्त किया। आज भी उनके भक्त इस दिन को 'श्री नामदेव समाधि दिवस' के रूप में याद करके अपने को धन्य समझते हैं। उन्होंने समाधि भी श्री विट्ठल भगवन के मंदिर में जाने वाली सीढ़ियों (जिसे मराठी में 'पायरी' कहते हैं) में ली। उनकी अंतिम इच्छा भी यही थी की श्री हरि विट्ठल के दर्शनार्थ जो भी भक्त मंदिर में प्रवेश करे तब उनकी रज कण मेरे माथे पर पड़े और वो श्री विट्ठल के दर्शन करे। आज भी वो स्थान 'श्री नामदेव पायरी' के नाम से जाना जाता है।

साहित्यक देन

नामदेव जी ने जो वाणी उच्चारण की, वह गुरुग्रंथ साहिब में भी मिलती है। बहुत सारी वाणी दक्षिण व महाराष्ट्र में गाई जाती हैं। आपकी वाणी पढ़ने से मन को शांति मिलती है व भक्ति की तरफ मन लगता है।

ठाकुर को दूध पिलाना

एक दिन नामदेव जी के पिता अपने पैतृक काम, कपड़े बेचने के काम से बाहर जा रहे थे। उन्होंने नामदेव जी से कहा कि अब उनके स्थान पर वह ठाकुर की सेवा करेंगे जैसे - ठाकुर को स्नान कराना, मन्दिर को स्वच्छ रखना व ठाकुर को दूध चढ़ाना। जैसे सारी मर्यादा मैं पूर्ण करता हूँ वैसे तुम भी करना। देखना लापरवाही या आलस्य मत करना नहीं तो ठाकुर जी नाराज हो जाएँगे।

नामदेव जी ने वैसा ही किया जैसे पिताजी समझाकर गए थे। जब उन्होंनें दूध का कटोरा भरकर ठाकुर जी के आगे रखा और हाथ जोड़कर बैठे व देखते रहे कि ठाकुर जी किस तरह दूध पीते हैं? मगर ठाकुर जी की मूर्ति कहां दूध पीने वाली थी? वह तो पत्थर की मूर्ति थे। उन्होंने विनती करनी शुरू की हे प्रभु- मैं तो आपका छोटा-सा सेवक हूँ, दूध लेकर आया हूँ कृपा करके इसे ग्रहण कीजिए। भक्त ने अपनी बेचैनी इस प्रकार प्रकट की -

हे प्रभु! यह दूध मैं कपिला गाय से दोह कर लाया हूँ। हे मेरे गोविंद! यदि आप दूध पी लेंगे तो मेरा मन शांत हो जाएगा नहीं तो पिताजी नाराज होंगे। दूध की कटोरी मैंने आपके आगे रखी है। पीए! अवश्य पीए! मैंने कोई पाप नहीं किया। यदि मेरे पिताजी से प्रतिदिन दूध पीते हो तो मुझसे आप क्यों नहीं ले रहे? हे प्रभु! दया करें। पिताजी मुझे पहले ही बुरा व निकम्मा समझते हैं। यदि आज आपने दूध नहीं पीया तो मेरी खैर नहीं। पिताजी मुझे घर से बाहर निकाल देंगे।

जो कार्य नामदेव के पिता सारी उम्र न कर सके वह कार्य नामदेव ने कर दिया। उस मासूम बच्चे को पंडितों की बेईमानी का पता नहीं था। वह ठाकुर जी के आगे मिन्नतें करता रहा। अन्त में प्रभु भक्त की भक्ति पर खिंचे हुए आ गए। पत्थर की मूर्ति द्वारा हँसे। नामदेव ने इसका जिक्र इस प्रकार किया है -

ऐकु भगतु मेरे हिरदे बसै।
नामे देखि नराइनु हसै (पन्ना 1163)

एक भक्त प्रभु के हृदय में बस गया। नामदेव को देखकर प्रभु हँस पड़े। हँस कर उन्होंने दोनों हाथ आगे बढ़ाएं और दूध पी लिया। दूध पीकर मूर्ति फिर वैसी ही हो गई।

दूधु पीआई भगतु घरि गइआ।
नामे हरि का दरसनु भइआ (पन्ना 1163 - 64)

दूध पिलाकर नामदेव जी घर चले गए। इस प्रकार प्रभु ने उनको साक्षात् दर्शन दिए। यह नामदेव की भक्ति मार्ग पर प्रथम जीत थी।

शुद्ध हृदय से की हुई प्रार्थना से उनके पास शक्तियाँ आ गई। वह भक्ति भाव वाले हो गए और जो वचन मुँह निकलते वही सत्य होते। जब आपके पिताजी को यह ज्ञान हुआ कि आपने ठाकुर में जान डाल दी व दूध पिलाया तो वह बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने समझा उनका कुल सफल हो गया।

नामदेव जी के कुछ हिन्दी अभंग

हरि नांव हीरा हरि नांव हीरा। हरि नांव लेत मिटै सब पीरा टेक।
हरि नांव जाती हरि नांव पांती। हरि नांव सकल जीवन मैं क्रांती ।1।
हरि नांव सकल सुषन की रासी। हरि नांव काटै जम की पासी ।2।
हरि नांव सकल भुवन ततसारा। हरि नांव नामदेव उतरे पारा ।3।
रांम नांम षेती रांम नांम बारी। हमारै धन बाबा बनवारी टेक।
या धन की देषहु अधिकाई। तसकर हरै न लागै काई ।1।
दहदिसि राम रह्या भरपूरि। संतनि नीयरै साकत दूरि ।2।
नामदेव कहै मेरे क्रिसन सोई। कूंत मसाहति करै न कोई ।3।
रांमसो धन ताको कहा अब थोरौ। अठ सिधि नव निधि करत निहोरौ टेक।
हरिन कसिब बधकरि अधपति देई। इंद्रकौ विभौ प्रहलाद न लेई ।1।
देव दानवं जाहि संपदा करि मानै। गोविंद सेवग ताहि आपदा करि जानै ।2।
अर्थ धरम काम की कहा मोषि मांगै। दास नांमदेव प्रेम भगति अंतरि जो जागै ।3।

सन्त एकनाथ

एकनाथ (1533–1599 ई.) प्रसिद्ध मराठी सन्त जिनका जन्म पैठण में संत भानुदास के कुल में हुआ था। इन्होंने संत ज्ञानेश्वर द्वारा प्रवृत्त साहित्यिक तथा धार्मिक कार्य का सब प्रकार से उत्कर्ष किया। ये संत भानुदास के पौत्र थे। गोस्वामी तुलसीदास के समान मूल नक्षत्र में जन्म होने के कारण ऐसा विश्वास है कि कुछ महीनों के बाद ही इनके माता–पिता की मृत्यु हो गई थी। बालक एकनाथ स्वभावत: श्रद्धावान तथा बुद्धिमान थे। देवगढ़ के हाकिम जनार्दन स्वामी की ब्रह्मनिष्ठा, विद्वत्ता, सदाचार और भक्ति देखकर भावुक एकनाथ उनकी ओर आकृष्ट हुए और उनके शिष्य हो गए। एकनाथ ने अपने गुरु से ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, श्रीमद्भागवत आदि ग्रंथों का अध्ययन किया और उनका आत्मबोध जाग्रत हुआ। गुरु की आज्ञा से ये गृहस्थ बने।

एकनाथ अपूर्व संत थे। प्रवृत्ति और निवृत्ति का ऐसा अनूठा समन्वय कदाचित् ही किसी अन्य संत में दिखाई देता है। आज से 400 वर्ष पूर्व इन्होंने मानवता की उदार भावना से प्रेरित होकर अछूतोद्धार का प्रयत्न किया। ये

जितने ऊँचे संत थे उतने ही ऊँचे कवि भी थे। इनकी टक्कर का बहुमुखी सृर्जनशील प्रतिभा का कवि महाराष्ट्र में इनसे पहले पैदा नहीं हुआ था। महाराष्ट्र की अत्यंत विषम अवस्था में इनको साहित्यसृष्टि करनी पड़ी। मराठी भाषा, उर्दू-फारसी से दब गई थी। दूसरी ओर संस्कृत के पंडित देशभाषा मराठी का विरोध करते थे। इन्होंने मराठी के माध्यम से ही जनता को जाग्रत करने का बीड़ा उठाया।

कृतियाँ

एकनाथ की रचनाएँ निम्नलिखित मानी जाती हैं-

1. चतुश्लोकी भागवत,
2. पौराणिक आख्यान और संतचरित्र,
3. भागवत,
4. रुक्मिणी स्वयंवर,
5. भावार्थ रामायण,
6. मराठी एवं हिंदी में कई सौ 'अभंग',
7. हस्तामलक शुकाष्टक, स्वात्मसुख, आनंदलहरी, चिरंजीव पद इत्यादि आध्यात्मिक विवेचन पर कृतियाँ,
8. लोकगीतों (भारुड) की रचनाएँ इत्यादि।

भागवत इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिसका सम्मानं वाराणसी के पंडितों ने भी किया था। ये प्रथम मराठी कवि थे जिन्होंने लोकभाषा में रामायण पर बृहत् ग्रंथ रचा। लोकरंजन करते हुए, लोक जागरण करना इनका ध्येय था और इसमें शत-प्रतिशत सफल रहे, इसीलिए इनको युग प्रवर्तक कवि कहते हैं। इन्होंने ज्ञानेश्वरी की अनेक पांडुलिपियों का सूक्ष्म अध्ययन तथा शोध करके ज्ञानेश्वरी की शुद्ध एवं प्रामाणिक प्रति तैयार की और अन्य विद्वानों के सम्मुख साहित्य के शोधकार्य का आदर्श उपस्थित किया।

संत ज्ञानेश्वर

संत ज्ञानेश्वर महाराष्ट्र तेरहवीं सदी के एक महान सन्त थे जिन्होंने ज्ञानेश्वरी की रचना की। संत ज्ञानेश्वर की गणना भारत के महान संतों एवं मराठी कवियों में होती है। ये संत नामदेव के समकालीन थे और उनके साथ इन्होंने पूरे महाराष्ट्र का भ्रमण कर लोगों को ज्ञान-भक्ति से परिचित कराया और समता,

समभाव का उपदेश दिया। वे महाराष्ट्र-संस्कृति के 'आद्य-प्रवर्तकों' में भी माने जाते हैं।

जीवनी

संत ज्ञानेश्वर का जन्म सन् 1275 ईस्वीं में महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले में पैठण के पास गोदावरी नदी के किनारे आपेगाँव में भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को हुआ था। इनके पिता का नाम विट्ठल पंत एवं माता का नाम रुक्मिणी बाई था। इनके पिता उच्च कोटि के मुमुक्षु तथा भगवान विट्ठलनाथ के अनन्य उपासक थे। विवाह के उपरांत उन्होंने संन्यास दीक्षा ग्रहण की थी, किंतु उन्हें अपने गुरुदेव की आज्ञा से फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना पड़ा। इस अवस्था में उन्हें निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव तथा सोपान नामक तीन पुत्र एवं मुक्ताबाई नाम की एक कन्या हुई। संन्यास-दीक्षा-ग्रहण के उपरांत इन संतानों का जन्म होने के कारण इन्हें 'संन्यासी की संतान' यह अपमानजनक संबोधन निरंतर सहना पड़ता था। विट्ठल पंत को तो उस समय के समाज द्वारा दी गई आज्ञा के अनुसार देहत्याग तक करना पड़ा था।

पिता की छत्रछाया से वंचित अनाथ भाई-बहन जनापवाद के कठोर आघात सहते हुए 'शुद्धिपत्र' की प्राप्ति के लिये उस समय के सुप्रसिद्ध धर्मक्षेत्र पैठन में जा पहुँचे। किम्वदंती प्रसिद्ध है : ज्ञानदेव ने यहाँ उनका उपहास उड़ा रहे ब्राह्मणों के समक्ष भैंसे के मुख से वेदोच्चारण कराया था। गीताप्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित इनके जीवन-परिचय के अनुसार - '.....1400 वर्ष के तपस्वी चांगदेव के स्वागत के लिए जाना था, उस समय ये दीवार पर बैठे थे, उसी दीवार को उक्त संत के पास चला कर ले गये। ' मराठी गीत में यह घटना यों गाई जाती रही है-'चालविली जड़ भिंती। हरविली चांगयाची भ्रान्ति।' इनके इस अलौकिक चमत्कार से प्रभावित हो पैठन (पैठण) के प्रमुख विद्वानों ने उन चारों भाई-बहनों को शक संवत् 1209 (सन् 1287) में 'शुद्धिपत्र' प्रदान कर दिया।

उक्त शुद्धिपत्र को लेकर ये चारों प्रवरा नदी के किनारे बसे नेवासे ग्राम में पहुँचे। ज्ञानदेव के ज्येष्ठ भ्राता निवृत्तिनाथ के नाथ संप्रदाय के गहनीनाथ से उपदेश मिला था। इन्होंने उस आध्यात्मिक धरोहर को ज्ञानदेव के द्वारा अपनी छोटी बहन मुक्ताबाई तक यथावत् पहुँचा दिया। इस प्रकार परमार्थमार्ग में कृतार्थ एवं सामाजिक दृष्टि से पुनीत ज्ञानदेव ने आबालवृद्धों को अध्यात्म का सरल परिचय प्राप्त कराने के उद्देश्य से श्रीमद्भगवद्गीता पर मराठी में टीका लिखी।

इसी का नाम है भावार्थदीपिका अथवा ज्ञानेश्वरी। इस ग्रंथ की पूर्णता शक संवत् 1212 नेवासे गाँव के महालय देवी के मंदिर में हुई। कुछ विद्वानों का अभिमत है- इन्होंने अभंग-वृत्त की एक मराठी टीका योगवासिष्ठ पर भी लिखी थी, पर दुर्भाग्य से वह अप्राप्य है।

उन दिनों के लगभग सारे धर्मग्रंथ संस्कृत में होते थे और आम जनता बहुत संस्कृत नहीं जानती थी, अस्तु तेजस्वी बालक ज्ञानेश्वर ने केवल 15 वर्ष की उम्र में ही गीता पर मराठी की बोलचाल भाषा में 'ज्ञानेश्वरी' नामक गीता-भाष्य की रचना करके मराठी जनता की उनकी अपनी भाषा में उपदेश कर जैसे ज्ञान की झोली ही खोल दी। स्वयं टीकाकार ने लिखा है- 'अब यदि मैं गीता का ठीक-ठीक विवेचन मराठी (देशी) भाषा में करूं तो इस में आश्चर्य का क्या कारण है ...गुरु-कृपा से क्या कुछ सम्भव नहीं'

इस ग्रंथ की समाप्ति के उपरांत ज्ञानेश्वर ने अपने राजनीतिक सिद्धांतों की स्वतंत्र विवेचना करने वाले 'अमृतानुभव' नामक दूसरे ग्रंथ का निर्माण किया। इस ग्रंथ के पूर्ण होने के बाद ये चारों भाई-बहन पुणे के निकटवर्ती ग्राम आलंदी आ पहुँचे। यहाँ से इन्होंने योगीराज चांगदेव को 65 ओवियों (पदों) में जो पत्र लिखा वह महाराष्ट्र में 'चांगदेव पासष्ठी' नाम से विख्यात है।

ज्ञानदेव जब तीर्थयात्रा के उद्देश्य से आलंदी से चले उस समय इनके साथ इनके भाई, बहन, दादी, तथा विसोवा खेचर, गोरा कुम्हार आदि अनेक समकालीन संत भी थे। विशेषतया नामदेव तथा ज्ञानदेव के आपसी संबंध इतने स्नेहपूर्ण थे कि ऐसा लगता था मानो इस तीर्थयात्रा के बहाने ज्ञान और कर्म दोनों तपस्वियों के भेष में साकार रूप धारण कर एकरूप हो गए हों। तीर्थयात्रा से लौटते हुए ज्ञानदेव पंढ़रपुर मार्ग से आलंदी आ पहुँचे। विद्वानों का अनुमान हैं कि ज्ञानदेव ने इसी काल में अपने 'अभंगों' की रचना की होगी।

बालक से लेकर वृद्धों तक को भक्तिमार्ग का परिचय करा कर भागवत-धर्म की पुनःस्थापना करने बाद ज्ञानदेव ने आलंदी ग्राम में अत्यंत युवा होते हुए भी जीवित समाधि लेने का निश्चय किया। मात्र 21 वर्ष तीन माह और पांच दिन की अल्पायु में वह इस नश्वर संसार का परित्याग कर समाधिस्थ हो गये। ज्ञानदेव के समाधिग्रहण का वृत्तांत संत नामदेव ने अत्यंत हृदयस्पर्शी शब्दों में लिखा है। अपने गुरु निवृत्तिनाथ को अंतिम वंदन कर ज्ञानदेव स्थितप्रज्ञ के समान समाधि मंदिर में जा बैठे। तदुपरांत स्वयं गुरु ने समाधि मंदिर की द्वारशिला बंद कर दी। ज्ञानेश्वर, जिन्हें ध्यानेश्वर भी कहा जाता है, ने यह जीवित समाधि

ग्राम आलिंदी संवत् में शके 1217 (वि. संवत् 1353 (सन् 1296) की मार्गशीर्ष वदी (कृष्ण) त्रयोदशी को ली, जो पुणे के लगभग 14 किलोमीटर दूर अब एक प्रसिद्ध तीर्थ बन गया है।

कृतियाँ

ज्ञानेश्वर जी की लिखी 'ज्ञानेश्वरी', 'अमृतानुभव', 'चांगदेव पासठी' तथा 'अभंग' जैसी कई कृतियाँ सर्वमान्य हैं। कुछ वर्ष पूर्व यह सिद्धांत उपस्थित किया गया था कि ज्ञानेश्वरी के लेखक तथा अभंग के रचयिता, एक ही नाम के दो भिन्न व्यक्ति हैं। किंतु अब अनेक पुष्ट आधारों से इस सिद्धांत का खंडन होकर यह बात सर्वमान्य हो चुकी है कि ये रचनाएं ही व्यक्ति संत ज्ञानेश्वर/ध्यानेश्वर की ही हैं।

अपने अभंगों में ज्ञानेश्वर ने तत्त्वचर्चा की गहराइयों को न नापते हुए अधिकार वाणी से साधारण जनता को आचार धर्म की शिक्षा दी है। फल यह हुआ कि बालकों से वृद्धों तक के मन पर यह अभंगवाणी पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित हुई। गुरुकृपा, नामस्मरण और सत्संग ये परमार्थपथ की तीन सीढ़ियाँ हैं, जिनका दिग्दर्शन संत ज्ञानेश्वर ने अपनी शिक्षाओं में मूलत: कराया है।

ज्ञानदेव जैस श्रेष्ठ संत थे वैसे ही वे श्रेष्ठ कवि भी थे। उनकी आध्यात्मिक साधना काव्यरस से आप्लावित है, उनकी कविता को दर्शन की गुरु-गंभीरता मिली है। यह सत्य है कि ज्ञानेश्वर की अभंगवाणी 'आप-बीती' जैसी होने के कारण उसमें जगह-जगह रस-स्रोत दृष्टव्य रहे हैं, तथापि उनके ज्ञान की पूर्णता ज्ञानेश्वरी में ही हुई है। काव्य के दोनों अंगों, रस और अलंकार का ज्ञानेश्वरी में सुंदर समन्वय है।

तत्त्वविचार तथा काव्य सौंदर्य के समान ही महाराष्ट्र के पारमार्थिक जीवन में भी ज्ञानेश्वर ने जो कार्य किए वे सभी क्रांतिकारी थे। उन दिनों कर्मकांड का बोलबाला था, समाज का नेतृत्व करने वाली पंडितों की परंपरा प्रभावहीन हो चुकी थी। ऐसी अवस्था में अध्यात्म-ज्ञान की महत्ता स्थापित करते हुए सर्वसाधारण मानव के आकलन योग्य भक्तिमार्ग का प्रतिपादन ज्ञानदेव ने किया। पंडितों के ग्रंथों तक सीमित रहने वाला अध्यात्म दर्शन शूद्रादिकों के लिये भी सहज सुलभ हो, इसे ध्यान में रखते हुए' ज्ञानेश्वरी' की रचना की गई। 'नीच' समझे जाने वाले कुल में जन्म लेने के कारण मनुष्य को सामाजिक दृष्टि से कितना ही 'निम्न' क्यों न माना जाता हो, परंतु ईश्वर के यहाँ सभी को समान

आश्रय मिलता है, इस सिद्धांत को प्रतिपादित करने का श्रेय ज्ञानेश्वर को है। महाराष्ट्र में इनके ग्रंथ ज्ञानेश्वरी को 'माउली' या माता भी कहा जाता है। दूसरे उपदेश एवं आश्वासन के कारण उस समय महाराष्ट्र की सभी जातियों में भगवद्भक्तों की एक पीढ़ी ही निर्मित हो गई और मराठी भावुक नर-नारी अपनी-अपनी भाषा में पंढ़रपुर के भगवान पांडुरंग या विट्ठल की महिमा गाने लगे। भगवान केवल कठोर न्यायाधीश ही नहीं, अपितु सहजवत्सल पिता भी हैं। उनकी दृष्टि में एक माता की सी करुणा है- यह बात संपूर्ण महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर ने अपनी सादी-मधुर भाषा में बतलाई। इसी कारण यहाँ पुनः एक बार भागवत धर्म की स्थापना हुई तथा इस संप्रदाय के प्रमुख धर्मग्रंथ के रूप में 'ज्ञानेश्वरी' की भी समान्यजन के बीच प्रतिष्ठा हुई। इसी के द्वारा स्फूर्ति प्राप्त कर अनेक भागवत कवियों ने मराठी भाषा में ग्रंथ-रचना की और भक्ति-मार्ग में एक समृद्ध काव्य-परंपरा का निर्माण किया इसीलिये ज्ञानदेव महाराष्ट्र-संस्कृति के आद्य-प्रवर्तक माने जाने लगे।

जयदेव

जयदेव (1200 ईस्वी के आस-पास) संस्कृत के महाकवि हैं जिन्होंने गीत गोविंद और रतिमंजरी की रचना की। जयदेव, उत्कल राज्य यानि ओडिशा के गजपति राजाओं के समकालीन थे।

जयदेव एक वैष्णव भक्त और संत के रूप में सम्मानित थे। उनकी कृति 'गीत गोविन्द' को श्रीमद्भागवत के बाद राधा-कृष्ण की लीला की अनुपम साहित्य-अभिव्यक्ति माना गया है। संस्कृत कवियों की परंपरा में भी वह अंतिम कवि थे, जिन्होंने 'गीत गोविन्द' के रूप में संस्कृत भाषा के मधुरतम गीतों की रचना की। कहा गया है कि जयदेव ने दिव्य रस के स्वरूप राधा-कृष्ण की रमणलीला का स्तवन कर आत्मशांति की सिद्धि की। भक्ति विजय के रचयिता संत महीपति ने जयदेव को श्रीमद्भागवतकार व्यास का अवतार माना है।

परिचय एवं प्रशंसा

'भक्तमाल' के लेखक नाभादास ने ब्रजभाषा में जयदेव की प्रशंसा करते हुए लिखा है-

कवि जयदेव, कवियों में सम्राट हैं, जबकि अन्य कवि छोटे राज्यों के शासकों के समान हैं। तीनों लोकों में उनके 'गीत गोविन्द' की आभा फैल रही

है। यह रचना काम-विज्ञान, काव्य, नवरस तथा प्रेम की आनंदमयी कला का भंडार है, जो उनके अष्टपदों का अध्ययन करता है, उसकी बुद्धि की वृद्धि होती है। राधा के प्रेमी कृष्ण उन्हें सुनकर प्रसन्न होते हैं और अवश्य ही उस स्थान पर आते हैं, जहां ये गीत गाए जाते हैं। जयदेव वह सूर्य हैं, जो कमलवत नारी, पद्मावती को सुख की प्राप्ति कराते हैं। वे संतरूपी कमल-समूह के लिए भी सूर्य की भांति हैं। कवि जयदेव कवियों में सम्राट हैं।

जयदेव ने 'गीत गोविन्द' के माध्यम से, राधा-कृष्ण वैष्णव धर्म का प्रचार किया। इसलिए 'गीत गोविन्द' को वैष्णव साधना में भक्तिरस का शास्त्र कहा गया है। जयदेव ने 'गीत गोविन्द' के माध्यम से उस समय के समाज को, जो शंकराचार्य के सिद्धांत के अनुरूप आत्मा और मायावाद में उलझा हुआ था, राधा-कृष्ण की रसयुक्त लीलाओं की भावुकता और सरसता से जन-जन के हृदय को आनंदविभोर किया। जयदेव का जन्म भुवनेश्वर के समीप केन्दुबिल्व में हुआ। यह वैष्णव तीर्थयात्रियों के लिए, ओडिशा में, आज भी एक महत्त्वपूर्ण तीर्थस्थान है। यहां वार्षिक मेला लगता है, जिसमें संतों, साधकों और महंतों का समागम होता है।

जयदेव जगन्नाथ जी के दर्शन करने पुरी जा रहे थे। उसी यात्रा के दौरान उनहें गीत गोविन्द की रचना की प्रेरणा मिली। कहते हैं- पुरुषोत्तम क्षेत्र पहुंचकर उन्होंने जगन्नाथ का दर्शन किया। एक विरक्त संन्यासी की तरह वृक्ष के नीचे रहकर भगवान का भजन-कीर्तन करने लगे। उनके वैराग्य से प्रेरित होकर, वहां अन्य बड़े संत-महात्माओं का सत्संग होने लगा। फिर एक जगन्नाथ भक्त ने प्रभु की प्रेरणा से अपनी कन्या पद्मावती का विवाह जयदेव से कर दिया। वह गृहस्थ होकर भी संत का जीवन जीते रहे।

जयदेव ने राधा-कृष्ण की, शृंगार रस से परिपूर्ण भक्ति का महिमागान एवं प्रचार किया। जयदेव के राधा-कृष्ण सर्वत्र एवं पूर्णत: निराकार हैं। वे शाश्वत चैतन्य-सौन्दर्य की साक्षात् अभिव्यक्ति हैं। अपनी काव्य रचनाओं में जयदेव ने राधा-कृष्ण की व्यक्त, अव्यक्त, प्रकट एवं अप्रकट- सभी तरह की लीलाओं का भव्य वर्णन किया है।

निम्बार्काचार्य

निम्बार्काचार्य भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक थे जिन्होंने द्वैताद्वैत का दर्शन प्रतिपादित किया। आधुनिक शोधों से इनका समय आदि शंकराचार्य जी से पूर्व

सिद्ध होता है, अर्थात् ईसा-पूर्व 5 वीं शती से पहले। किन्तु निम्बार्क सम्प्रदाय का मानना है कि निम्बार्क का प्रादुर्भाव 3096 ईसा-पूर्व (आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व) हुआ था। निम्बार्क का जन्मस्थान वर्तमान महाराष्ट्र के औरंगाबाद के निकट मूंगीपैठनमें है। वे श्रीसुदर्शन चक्र के अवतार हैं। नारद पंचरात्र में कहा है, शंख साक्षात् वासुदेव है, गदा संकर्षण रूप है, पद्म प्रद्युम्न और सुदर्शन अनिरुद्ध स्वरूप हैं।

परिचय

श्रीकृष्ण को उपास्य के रूप में स्थापित करने वाले निम्बार्काचार्य वैष्णवाचार्यों में प्राचीनतम माने जाते हैं। राधा-कृष्ण की युगलोपासना को प्रतिष्ठापित करने वाले निम्बार्काचार्य का प्रादुर्भाव कार्तिक पूर्णिमा को हुआ था। भक्तों की मान्यतानुसार आचार्य निम्बार्क का आविर्भाव-काल द्वापर के अन्त में कृष्ण के प्रपौत्र बज्रनाभ और परीक्षित पुत्र जनमेजय के समकालीन बताया जाता है।

इनका जन्म वैदूर्यपत्तन(मुंगीपैठन) में (औरंगाबाद के निकट) हुआ था। श्रीकृष्ण को परमब्रह्म के रूप में मानकर उनकी भक्ति को श्रीनिम्बार्क ने मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बताया था। इनके दर्शन को द्वैताद्वैतवाद कहा गया तथा इनका सम्प्रदाय सनक सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है। इन्हें सुदर्शन चक्र का अवतार माना जाता है।

इनके पिता अरुण ऋषि की, श्रीमद्भागवत में परीक्षित की भागवत कथा श्रवण के प्रसंग सहित अनेक स्थानों पर उपस्थिति को विशेष रूप से बतलाया गया है। सम्प्रदाय की मान्यतानुसार इन्हें भगवान के प्रमुख आयुध सुदर्शन का अवतार माना जाता है।

इनका जन्म वैदुर्यपत्तन (दक्षिण काशी) के अरुणाश्रण में हुआ था। इनके पिता अरुण मुनि और इनकी माता का नाम जयन्ती था। जन्म के समय इनका नाम 'नियमानन्द' रखा गया और बाल्यकाल में ही ये ब्रज में आकर बस गए। मान्यतानुसार अपने गुरु नारद की आज्ञा से नियमानंद ने गोवर्धन की तलहटी को अपनी साधना-स्थली बनाया।

बचपन से ही यह बालक बड़ा चमत्कारी था। एक बार गोवर्धन स्थित इनके आश्रम में एक दिवाभोजी यति (केवल दिन में भोजन करने वाला संन्यासी) आया। स्वाभाविक रूप से शास्त्र-चर्चा हुई पर इसमें काफी समय

व्यतीत हो गया और सूर्यास्त हो गया। यति बिना भोजन किए जाने लगा। तब बालक नियमानन्द ने नीम के वृक्ष की ओर संकेत करते हुए कहा कि अभी सूर्यास्त नहीं हुआ है, आप भोजन करके ही जाएं। लेकिन यति जैसे ही भोजन करके उठा तो देखा कि रात्रि के दो पहर बीत चुके थे। चकित होकर ब्रह्माजी ने कहा- हे चक्रराज ! जिस कार्य के लिए आपका अवतार हुआ है अब आप वह कार्य कीजिये। थोड़े ही समय बाद यहाँ नारद जी भी आने वाले हैं। आपने मुझे निम्ब पर अपना तेज दिखलाया, अतः अब आप लोक और शास्त्र में निम्बार्क नाम से प्रख्यात होंगे। अरुण ऋषि के यहाँ प्रकट होने के कारण 'आरुणी', जयन्ती के उदर से प्रकट होने के कारण 'जायन्तेय' एवं वेदार्थ का विस्तार करने के कारण आप 'नियमानन्द' नाम से विख्यात होंगे। इसी प्रकार और भी आपके बहुत से नाम होंगे जिन्हें ऋषि मुनि प्रयोग में लायेंगे ऐसा कहकर ब्रह्माजी अन्तर्ध्यान हो गये।

थोड़े ही समय के पश्चात् वहाँ वीणा बजाते हुए नारद जी पहुँचे। श्रीनिम्बार्काचार्य ने उनकी पूजा की और सिंहासन पर विराजमान करके प्रार्थना की- जो तत्त्व आपको श्रीसनकादिकों ने बतलाया था उसका उपदेश कृपाकर मुझे दीजिये। तब नारद जी ने श्रीनिम्बार्काचार्य को विधिपूर्वक पंच संस्कार करके श्रीगोपाल अष्टादशाक्षर मन्त्रराज की दीक्षा दी। उसके पश्चात् श्रीनिम्बार्काचार्य ने नारद जी से और भी कई प्रश्न किये, देवर्षि ने उन सबका समाधान किया। इनका संकलन- 'श्रीनारद नियमानन्द गोष्ठी' के नाम से प्रख्यात हुआ। स्वपुत्र श्रीनिम्बार्काचार्य के मुख से आध्यत्मिक ज्ञान प्राप्त करके अरुण ऋषि संयास लेकर तीर्थाटन करने लगे। श्रीनिम्बार्काचार्य ने माता को भी इसी प्रकार धर्मोपदेश किया और स्वयं नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर भारत-भ्रमण को निकले।

निम्बार्काचार्य ने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता पर अपनी टीका लिखकर अपना समग्र दर्शन प्रस्तुत किया। इनकी यह टीका 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' के नाम से प्रसिद्ध है। इनका मत 'स्वाभाविक द्वैताद्वैत' या 'स्वाभाविक भेदाभेद' के नाम से जाना जाता है। आचार्य निंबार्क के अनुसार जीव, जगत और ब्रह्म में वास्तविक रूप से भेदाभेद सम्बन्ध है। निंबार्क इन तीनों के अस्तित्त्व को उनके स्वभाव, गुण और अभिव्यक्ति के कारण भिन्न (प्रथक) मानते हैं तो तात्विक रूप से एक होने के कारण तीनों को अभिन्न मानते हैं। निम्बार्क के अनुसार उपास्य राधा कृष्ण ही पूर्ण ब्रह्म हैं।

सम्प्रदाय का आचार्यपीठ श्रीनिम्बार्कतीर्थ,किशनगढ़, अजमेर,राजस्थान में स्थित है।

श्रीनिम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) (जिला अजमेर) के श्रीराधामाधव मंदिर, वृन्दावन के निम्बार्क-कोट, नीमगांव (गोवर्धन) सहित भारत के विभिन्न हिस्सों में निम्बार्क जयन्ती विशेष समारोह पूर्वक मनाई जाती है।

जन्म कथा

एक समय बहुत से ऋषि-मुनि मिलकर ब्रह्मा जी के पास गये और उनसे प्रार्थना करने लगे। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों प्रकार के वैदिक मार्ग हैं। उनमें प्रथम प्रवृत्त होकर साधक किस प्रकार निवृत्ति पथ का अनुसरण करे? ऋषियों के इस प्रश्न के समाधानार्थ उन्हें साथ लेकर ब्रह्मा जी क्षीरसागर के तट पर गये और वहाँ विष्णु भगवान की प्रार्थना की। तब आकाशवाणी हुई कि निवृत्ति मार्ग के उपदेशक सनकादिक एवं नारद आदि हैं, अब एक और भी आचार्य प्रकट होंगे।

आकाशवाणी सुनकर ऋषि-मुनि सब अपने आश्रमों को लौट आये। भगवान ने श्रीसुदर्शन को आज्ञा प्रदान की- हे सुदर्शन ! भागवत धर्म के प्रचार-प्रसार में कुछ काल से शिथिलता आ रही है, अतः सुमेरु पर्वत के दक्षिण में तैलंग देश में अवतीर्ण होकर आप निवृत्ति-लक्षण भागवत धर्म का प्रचार-प्रसार कीजिये। मथुरा मण्डल, नैमिषारण्य, द्वारका आदि मेरे प्रिय धामों में निवास कीजिये। भगवान के आदेश को शिरोधार्य करके तैलंगदेशीय सुदर्शनाश्रम में भृगुवंशीय अरुण ऋषि की धर्मपत्नी श्रीजयन्ती देवी जी के उदर से कार्तिक शुक्ल 15 को सायंकाल श्रीनिम्बार्काचार्य का अवतार हुआ।

ग्रन्थ सम्पदा

आचार्य निम्बार्क की ग्रन्थ सम्पदा इस प्रकार है-

वेदान्तपारिजातसौरभ
वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी
प्रपन्नकल्पवल्ली
मन्त्ररहस्य षोडषी
प्रपत्तिचिन्तामणि
गीतावाक्यार्थ
सदाचार प्रकाश

राधाष्टकम्
कृष्णाष्टकम्
प्रातःस्मरणस्तोत्रम्।

निम्बार्क के इन्हीं ग्रन्थों पर द्वैताद्वैत सम्प्रदाय की नींव स्थिर है। इन ग्रन्थों में से प्रतिपत्तिचिन्तामणि, गीतावाक्यार्थ, और सदाचारप्रकाश, प्रायः अनुपलब्ध हैं। 'प्रपत्तिचिन्तामणि' तथा 'सदाचार प्रकाश' - इन दो ग्रन्थों का उल्लेख 'वेदान्त-रत्न-मजूषा' में श्री पुरुषोत्तम आचार्य ने किया है।

रामानन्द

रामानन्द सम्प्रदाय के प्रवर्तक समी रामानन्दाचार्य का जन्म सम्वत् 1236 में हुआ था। इनके जन्म के समय और स्थान के बारे में ठीक-ठीक जानकारी उपलब्ध नहीं है। शोधकर्ताओं ने जो जानकारी जुटाई है उसके अनुसार रामानन्द जी के पिता का नाम पुण्यसदन और माता का नाम सुशीला देवी था। उनकी माता नित्य वेणीमाधव भगवान की पूजा किया करती थीं। एक दिन वे मन्दिर में दर्शन करने गईं तो उन्हें दिव्योणी सुनाई दी - हे माता पुत्रवती हो। उनके आँचल में एक माला और दाहिनार्त शंख प्रकट हुआ। वह प्रसाद पाकर बहुत खुश हुईं और पतिदेव को सारी बात बताई।

एक दिन माता ने देखा- आकाश से प्रकाश पुंज आ रहा है। वह प्रकाश उनके मुख में समा गया। माता डरकर बेहाश हो गईं। थोड़ी देर बाद उन्हें जब होश आया तो वे उठकर बैठ गईं। उस दिन से उनके शरीर में एक शक्ति का संचार होने लगा। शुष्लग्न में प्रातः काल आचार्य प्रकट हुए। उनके प्रकट होने के समय माता को बिल्कुल पीड़ा नहीं हुई। पुण्यसदन जी के घर बालक पैदा होने की खबर पाकर पूरा प्रयाग नगर उमड़ पड़ा। कुलपुरोहित ने उनका नाम रामानन्द रखा। बालक के लिए सोने का पालना लगाया गया। उनके शरीर पर कई दिव्य चिन्ह थे। माथे पर तिलक का निशान था। बालक के खेलने के समय एक तोता रोजाना उसके पास आ जाता और 'राम-राम' का शब्द करता। यह 'राम-राम' का शब्द उनके जीन का आधार बन गया। इस बालक के पास एकानर कौआ भी रोजाना आता था। वह कौआ बालक के खिलौने लेकर उड़ जाता और बालक के मचलने पर वापस दे जाता। भादों के महीने में ऋषि-पंचमी के दिन अन्न प्रक्षालन का उत्सव मनाया गया। थाल में पकवान, खीर और लड्डू रखे गए लेकिन बालक रामानन्द ने खीर को उंगली लगाई। माता ने थोड़ी-सी खीर मुख

में खिला दी। उसके अलावा बालक ने कुछ नहीं खाया। यह खीर ही उनका आहार था।

एक दिन बालक रामानन्द खेलते हुए पूजा के मन्दिर में जा पहुंचे। उन्होंने दाहिन्रात शंख उठा लिया और बजाने लगे। पिता ने शंख को हाथ से छीन लिया और क्रोधित होने लगे। बालक रामानन्द बाहर भाग गया। बाद में उनके पिता को स्वप्न में वेणीमाधव भगवान ने शंख बालक को देने की आज्ञा की। प्रात:काल बालक को शंख बजाने को कहा। उस दिन से बालक रामानन्द दिन में तीन बार उस शंख को बजाते थे। पांच साल की उम्र में पिता ने कुछ ग्रन्थों के श्लोक सिखाए तो बालक ने तुरन्त याद कर लिए। एक साल में ही बालक रामानन्द ने कई ग्रन्थों को कण्ठंस्थ कर लिया। प्रयाग कुम्भ में विद्वानों की एक सभा हुई। इसमें बालक रामानन्द को भी बुलाया गया। सभी विद्वानों ने इसमें अपने-अपने मत रखे। बालक रामानंद ने कहा- जैसे कमल के दल पर पानी की बूंद लटकती है वैसे ही जै इस पृथ्वी पर हैं। पता नहीं कब उसके जाने का समय आ जाए? इसलिए वाद-विवाद छोड़ कर भगवान की भक्ति करनी चहिए। इस पर सभी विद्वानों और भक्तों ने उनकी प्रशंसा तथा आरती की।

आठ साल की अवस्था में बालक का यज्ञोपवीत कराया गया। माघ शुक्ला द्वादशी के दिन विद्वानों ब्राह्मणों नें पलास का डंडा देकर काशी पढ़ने चलने के लिए कहा और कुछ देर बाद लौटने के लिए कहने लगे। लेकिन बालक रामानन्द लौटकर आने के लिए तैयार न हुए। तो उनको उनके पिता पंडित औंकार शर्मा के घर लेकर आए। पंडित औंकार शर्मा रामानन्द जी के मामा लगते थे। शर्मा जी उनकी बुद्धि चातुर्य को देखकर आनन्दित थे। कुमार ने कुछ ही दिनों में चारों वेद, उपवेद को कण्ठस्थ कर उनके रहस्यों को समझ लिया।

उनकी प्रसिद्धि सुनकर नित्य-प्रति अनेकों लोग बालक को देखने आते। एक दिन सिद्ध देवी आई। उन्होंने कहा- मैं कालीखोह से आई हूं। उन्होंने बालक से संस्कृत में पूछा- हे कुमार, कौन सी स्त्री है, जो बड़ी चंचल है और चित्त में छुपी रहती हैं? वह नए-नए पदार्थ लाकर व्यक्तियों के सामने रखती है। परन्तु एक बार कोई उसे देख लेता है तो वह सदा के लिए लुप्त हो जाती है। इस पर बालक रामानन्द ने उत्तर दिया- उस स्त्री का नाम माया है। तब वृद्धा ने कहा- उससे ब्याह कर लो। तब कुमार ने कहा- उसकी इच्छा करते ही मुँह काला हो जाता है। ब्याह के समय मनुष्य लंगड़ा हो जाता है। वह माया अन्धी भी है। मैं तो ब्रह्मचारी हूं। सारे जगत का कल्याण करूंगा।

वृद्धा ने आशीर्वाद दिया- ऐसा ही होगा और अपने स्थान पर चली गई। वह माता साक्षात् कालिका देवी थीं।

यह शब्द सुनकर उनके पिता को बड़ा दुख हुआ। वह शांडिल्य गोत्र के एक ब्राह्मण की कन्या माधवी से विवाह तय कर चुके थे। इस बात को सुनकर वे कुमारिल भट्ट की मीमांसा लेकर आए। इसमे लिखा था- ''एक बार विवाह अवश्य करना चाहिए।''विवाह न करने से अनेकों पाप लगते हैं। इस पर रामानन्द जी ने कहा- यह कर्मकाण्ड की बात है। जिसे ज्ञान और भक्ति की सिद्धि बाल्यकाल में ही हो जाए उसे कोई पाप नहीं लगता। ऐसा कहकर वह चुप हो गए। पिता ने समझा कि वे हंसी में ऐसा कह रहे हैं और विवाह की तैयारी में लग गए। कन्या माधवी ने स्वंप्न में देखा- कोई देवता कह रहा है कि तूने रामानन्द से विवाह किया तो विधवा हो जाएगी। यह सुनकर उसके माता-पिता का उत्साह नष्ट हो गया। कन्या ने जीवन भर अविवाहित रहने की ठान ली और कठोर तप करने लगी। अन्न त्याग कर केवल लौंग खाकर रहने लगी। उसे दूसरा स्वप्न हुआ- जिससे तुम्हारा विवाह होने वाला था, जाकर उसी से उपदेश लो तो तुम्हारा शीघ्र कल्याण होगा। दूसरे दिन प्रातःकाल ही वह अपने परिवाार के साथ रामानन्द जी के सामने प्रस्तुत हुई और मन्त्र दीक्षा लेने की मांग करने लगी। रामानन्द जी के मना करने पर दूसरे लोग भी उसका समर्थन करने लगे। ज्यादा जिद करने पर रामानन्द जी ने अपने शंख को बजा दिया।

शंख ध्वनि सुनते ही उनकी समाधि लग गई। समाधि में उसे दस जन्मों का स्मरण हो आया। उसने कहा- मुझे भगवान से दिव्य ज्ञान मिल गया है मैं अभी भगान के धाम में जा रही हूं। यह कहते ही एक दिव्य विमान वहाँ प्रकट हुआ और वह विमान पर बैठ कर चली गई। इस पर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। उनके माता-पिता ने भी दीक्षा लेने की बात कही। इस पर रामानन्दाचार्य बहुत लज्जित महसूस करने लगे। वे वहीं बैठे-बैठे अन्तर्ध्यान हो गए। माता-पिता मूर्छित होकर गिर पड़े। उन्हें दिव्य धाम के दर्शन हुए। जहाँ कुमार रामानन्द दिव्य सिंहासन पर बैठे थे। बड़े-बड़े देते और ऋषि उनकी स्तुति कर रहे थे। जन्म के समय उन्हें भगवान ने जो आशीर्वाद दिया था वह भी उन्हें ज्ञात हो गया। मोह माया का बंधन छूट गया। माता-पिता ने उठ कर देखा, सभी लोग विलाप कर रहे थे।

चारो ओर पित्ति देखकर पुण्य सदन जी ने शरीर त्यागने की इच्छा की लेकिन लोगों ने उन्हें धैर्य बंधाया। उसी समय योग बल से महर्षि राघानन्द हाँ

प्रकट हुये। शिष्ठ मुनि के अंतार राघानन्द जी के प्रकट होते ही समस्त नर-नारी उनके चरणों में जा पड़े। उन्होने समाधि लगाकर लोगों की समस्या को समझा। वे पुण्य सदन जी को सम्बोधित कर कहने लगे- आपका पुण्य महान है। आपको प्रभु ने रदान दिया था कि वह बारह साल तक वे आपके घर में बाल लीला का आनन्द देंगे। अब वह समय पूरा हो गया है और प्रभु अपने लोक को चले गये हैं। इस पर लोगो ने महर्षि राघावनन्द जी से एक बार दर्शन कराने की बात की तो राघानन्द जी ने बड़े राम यज्ञ की आवश्यकता बताई। उस यज्ञ के बाद कुमार रामानन्द प्रकट हुये। महर्षि राघानन्द जी ने कुमार से कहा- आपने दर्शन देकर हमारे यज्ञ को सफल किया। अब आप इस भूमि पर धर्म में आई गिरावट को मिटाने के लिए और यवनों के अत्याचार को खत्म करने के लिए यहीं रहो। महर्षि राघवानन्द जी ने उन्हें राम मंत्र की दीक्षा देकर विधिवत् वैष्णव संन्यास दिया। रामानन्द जी पंच गंगा घाट पर तपस्या करने लगे। लोगों के ज्यादा आग्रह पर वह शंख बजाकर लोगों की समस्या का समाधान कर देते। एक मुर्दा उनकी शंख ध्वनि सुनकर जीवित हो गया था। उन्हें जब ज्यादा विक्षोभ होने लगा तो उन्होंने शंख बजाना बंद कर दिया। वे लोगों के आग्रह पर दिन में सिर्फ एक बार शंख बजाने लगे।

आधी रात के पश्चात् एक दिन जब वे गंगा स्नान के लिए गये तो कलयुग राज उनके सामने प्रकट हुये। उनका पंच पात्र सोने का था। कलयुग राज उसमें जा बैठे। लेकिन आचार्य को इसका पता चल गया। जब आचार्य ने उनसे पूछा कि आप मेरी पूजा में विघ्न क्यों डालते हो तो कलयुग राज प्रत्यक्ष होकर राम मंत्र की दीक्षा मांगने लगे। रामानन्दाचार्य जी ने अपना स्वभाव छोड़ उन्हें मंत्र दीक्षा दी। रामानन्द जी ने अपने जीव काल में अनेकों दुखियों और पीड़ितों को अपने आशीर्द से ठीक किया जिनमें राजकुमार का क्षय रोग, रैदास को दीक्षा, कबीर को आशीर्वाद, नये योगी श्री हरि नाथ की पीड़ा, ब्राह्मण कन्या बीनी का उद्धार जैसी अनेकों चमत्कारिक घटनायें शामिल थीं। गगनौढ़गढ़ के राजा पीपाजी को मंत्र दीक्षा देकर उन्होंने वैष्णव सन्त बना दिया। उन्होंने अपने जीव काल में यवनों से हिन्दुओं की रक्षा की। उनके अत्याचारों को रुकवाने के लिए दिल्ली के बादशाह से सन्धि की। आचार्य ने धर्म प्रचार के लिए काशी से चलकर गगनौरगढ़, चित्रकूट, जनकपुर, गंगासागर, जगन्नाथपुरी आदि स्थानों की यात्रा की। आज उन्हीं के तपोबल से रामानन्द सम्प्रदाय का विशाल पंथ चल रहा है।

श्री रामानंदाचार्य : कबीर तथा तुलसी के प्रेरक

श्री रामानंद मध्ययुगीन उदार चेतना के जन्मदाता, भक्ति आंदोलन के प्रवर्तक, तत्कालीन धार्मिक तथा समाजिक चेतना के मार्गदर्शक थे। उन्होंने भारत की सांस्कृतिक जीवन धारा को अक्षुण्य प्रवाहित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। वे वास्तव में कबीर तथा तुलसी के प्रेरणास्त्रोत थे। श्री रामानंद जिस युग में हुए वह भारत के इतिहास में धर्म, संस्कृति तथा समाज के ह्रास का काल था। इस्लाम की आंधी से भारतीय समाज अभी संभल न पाया था। तैमूर के आक्रमण से लेकर बाबर के आक्रमण तक समूचे समाज में राजनीतिक और सांस्कृतिक पराभव का काल था। श्री रामानंद की एक महत्त्वपूर्ण देन रामभक्ति को एक व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन का आधार बनाकर राष्ट्रीय जागरण करना था। यद्यपि अलवार साहित्य में रामभक्ति का वर्णन दक्षिण भारत में 9वीं शताब्दी के प्रारंभ में हो गया था। परंतु उत्तर भारत में इसका प्रचार मुख्यत: ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। रामानुज ने ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्ण भक्ति की उपासना का प्रचलन किया, वहां श्री रामानंद को आगे चलकर उत्तरी भारत में रामभक्ति का श्रेय प्राप्त है। शीघ्र ही रामभक्ति की गंगा देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रवाहित होने लगी। राम के नाम ने अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक व्याधियों के लिए रामबाण औषधि का काम किया। रामभक्ति उत्तर तथा दक्षिण में सम्पूर्ण देश की एकता को आबद्ध करने में सहायक सिद्ध हुआ। इसने समाज में आशा, आत्म, विश्वास तथा स्वाभिमान का भाव जाग्रत किया।

श्री रामानंद ने रामभक्ति के माध्यम से एक सामाजिक क्रांति का सूत्रपात किया। सामाजिक विषमताओं और बाहरी आड़म्बरों में जकड़े समाज में पुनरुत्थान की ओर पहला कदम बढ़ाने वाले रामानंद थे। रामभक्ति के माध्यम से उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों में सामाजिक समरसता तथा समन्वय की भावना पैदा करने का एक सफल प्रयास किया। श्री रामानंद ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ श्री वैष्णवमताज भास्कर में प्रचलित ऊंच-नीच की भावना पर क्रूर प्रहार किया।

श्री रामानंद की कथनी और करनी के एकात्मक भाव के प्रभाव से जहां एक ओर कबीर तथा अनेकानेक शिष्य रामानंद जी की वाणी के संदेशवाहक बने, वहीं दूसरी ओर रामभक्ति के महान उपासक तुलसी उनके प्रचारक बने। एक ओर कबीर ने 'जात-पांत' पूछे न कोई, हरि को भजे सो हरि का होई' का दिव्य संदेश दिया, तो तुलसी ने दूसरी ओर 'सिया राम मय सब जग जानी' का अमृत वचन बोला। वस्तुत: रामानंद वह कर पाये जो भारत के अनेक विद्वान तथा

अनेक संत महापुरुष न कर सके। रामभक्ति का यह दिव्य शंखनाद समूचे समाज को जोड़ने का मंत्र बन गया।

साथ ही श्री रामानंद ने एक प्रभावी तथा अद्‌भुत शिष्य परंपरा का निर्माण किया। विश्व के समूचे इतिहास में किसी भी व्यक्ति ने उतने श्रेष्ठ तथा समर्पित शिष्यों का निर्माण नहीं किया जितना रामानंद ने। रामानंद के बारह प्रसिद्ध शिष्य भक्ति आंदोलन के मुख्य प्रचारक बने। उनकी रामभक्ति की धारा दो प्रवाहों में विभाजित हुई थी। एक निराकार निर्गुण रामभक्ति में तथा दूसरी साकार सगुण अवतारी रामभक्ति में। एक का प्रतिनिधित्व किया कबीर ने तथा दूसरे को व्यापक स्वरूप प्रदान किया तुलसी ने।

क्रांतिकारी कबीर ने रामानंद से निर्गुण राम तथा भक्ति का रहस्य सीखा। यद्यपि राम की अवतारवाद की धारणा को उन्होंने स्वीकार नहीं किया, परंतु ईश्वर को ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया। इसके प्रमाण श्री गुरूग्रंथ साहब में उनके एक पद से होता है, जो उसमें दिया गया है। कबीर पर रामानंद का प्रभाव प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि उन्होंने भक्ति के लिए अभय का पाठ रामानंद से ही सीखा। कबीर ग्रंथावली में राम का नाम 217 बार आया है, कबीर की भक्ति रामानंद की भांति जाति भेद अथवा वर्ग भेद से ऊपर है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है यदि रामानंद व कबीर हिन्दू समाज के उपेक्षित जनों में एक आशा और भरोसे की नींव न डालते तो उनमें से अधिकतर मुसलमान हो गए होते। महाकवि तुलसी ने रामानंद की भक्ति तथा अद्वैत वेदांत का समन्वय कर सगुण रामभक्ति का पाठ विश्व को पढ़ाया। वस्तुतः समाज के प्रबुद्ध विचार तथा जन सामान्य के विचारों का अद्‌भुत समन्वय तुलसी के दर्शन में दृष्टिगोचर होता है। जहां शंकर का अद्वैतवाद प्रबुद्ध विचार का परिचायक है, वहां रामानंद के भक्ति संबंधी विचारों में जन सामान्य की भावना का प्रतिनिधित्व है। दोनों का अद्‌भुत समन्वय तुलसी में दिखलाई देता है। इसी कारण उनका प्रसिद्ध ग्रंथ रामचरितमानस् विश्व के महानतम ग्रंथों में माना जाता है। धर्म की मर्यादा को महत्त्व देते हुए उन्होंने भक्ति की धारा प्रभावित की।

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि श्री रामानंदाचार्य को ही यह श्रेय है कि उन्होंने प्रेम और रामभक्ति को उत्तर भारत में जनव्यापी एक सांस्कृतिक आंदोलन का स्वरूप प्रदान किया। रामभक्ति के माध्यम से उन्होंने देश में नव-जागरण किया। उन्होंने भारतीय समाज में आत्म-विश्वास व सामाजिक चेतना जगाई। इसके फलस्वरूप धर्म मत परिवर्तन की प्रक्रिया अवरुद्ध हुई। जन

भाषा के माध्यम से उनके द्वारा फैला यह आंदोलन शीघ्र ही भक्ति आंदोलन के रूप में व्यक्त हुआ और जिसे कबीर तथा तुलसी ने रक्षात्मक के साथ-साथ आक्रामक स्वरूप प्रदान किया। वही रामभक्ति की अविरल धारा आज भी भारतीय समाज को समेटे हुए प्रेरणा व राष्ट्रीय जागरण का स्रोत बनी हुई है।

कबीर

कबीर या भगत कबीर 15वीं सदी के भारतीय रहस्यवादी कवि और संत थे। वे हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन युग में ज्ञानाश्रयी-निर्गुण शाखा की काव्यधारा के प्रवर्तक थे। इनकी रचनाओं ने हिन्दी प्रदेश के भक्ति आंदोलन को गहरे स्तर तक प्रभावित किया। उनका लेखन सिखों के आदि ग्रंथ में भी देखने को मिलता है।

वे हिन्दू धर्म व इस्लाम के आलोचक थे। उन्होंने सामाजिक अंधविश्वास की निंदा की और सामाजिक बुराइयों की कड़ी आलोचना की थी। उनके जीवनकाल के दौरान हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उन्हें अपने विचार के लिए धमकी दी थी।

कबीर के (लगभग 14वीं-15वीं शताब्दी)जन्म स्थान के बारे में विद्वानों में मतभेद है, परन्तु अधिकतर विद्वान इनका जन्म काशी में ही मानते हैं, जिसकी पुष्टि स्वयं कबीर का यह कथन भी करता है।

'काशी में परगट भये,रामानंद चेताये'

कबीर के गुरु के सम्बन्ध में प्रचलित कथन है कि कबीर को उपयुक्त गुरु की तलाश थी। वह वैष्णव संत आचार्य रामानंद को अपना गुरु बनाना चाहते थे लेकिन उन्होंने कबीर को शिष्य बनाने से मना कर दिया लेकिन कबीर ने अपने मन में ठान लिया कि स्वामी रामानंद को ही हर कीमत पर अपना गुरु बनाऊंगा,इसके लिए कबीर के मन में एक विचार आया कि स्वामी रामानंद जी सुबह चार बजे गंगा स्नान करने जाते हैं उसके पहले ही उनके जाने के मार्ग में सीढ़ियों पर लेट जाऊंगा और उन्होंने ऐसा ही किया। एक दिन, एक पहर रात रहते ही कबीर पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर गिर पड़े। रामानन्द जी गंगा स्नान करने के लिये सीढ़ियां उतर रहे थे कि तभी उनका पैर कबीर के शरीर पर पड़ गया। उनके मुख से तत्काल 'राम-राम' शब्द निकल पड़ा। उसी राम को कबीर ने दीक्षा-मन्त्र मान लिया और रामानन्द जी को अपना गुरु स्वीकार कर लिया। कबीर के ही शब्दों में-

काशी में परगट भये, रामानंद चेताये

जीविकोपार्जन के लिए कबीर जुलाहे का काम करते थे। कबीर की दृढ़ मान्यता थी कि कर्मों के अनुसार ही गति मिलती है स्थान विशेष के कारण नहीं। अपनी इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए अंत समय में वह मगहर चले गए , क्योंकि लोगों की मान्यता थी कि काशी में मरने पर स्वर्ग और मगहर में मरने पर नरक मिलता है। मगहर में उन्होंने अंतिम सांस ली। आज भी वहां पर मजार व समाथ्ध स्थित है।

भाषा

कबीर की भाषा सधुक्कड़ी एवं पंचमेल खिचड़ी हैं। इनकी भाषा में हिंदी भाषा की सभी बोलियों के शब्द सम्मिलित हैं। राजस्थानी, हरियाणवी, पंजाबी, खड़ी बोली, अवधी, ब्रजभाषा के शब्दों की बहुलता है।

कृतियां

धर्मदास ने उनकी वाणियों का संग्रह 'बीजक' नाम के ग्रंथ में किया जिसके तीन मुख्य भाग हैं : साखी, सबद (पद), रमैनी

साखी: संस्कृत ' साक्षी, शब्द का विकृत रूप है और धर्मोपदेश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अधिकांश साखियां दोहों में लिखी गयी हैं पर उसमें सोरठे का भी प्रयोग मिलता है। कबीर की शिक्षाओं और सिद्धांतों का निरूपण अधिकतर साखी में हुआ है।

सबद गेय पद है, जिसमें पूरी तरह संगीतात्मकता विद्यमान है। इनमें उपदेशात्मकता के स्थान पर भावावेश की प्रधानता है, क्योंकि इनमें कबीर के प्रेम और अंतरंग साधना की अभिव्यक्ति हुई है।

रमैनी चौपाई छंद में लिखी गयी है इनमें कबीर के रहस्यवादी और दार्शनिक विचारों को प्रकट किया गया है।

धर्म के प्रति

साधु संतों का तो घर में जमावड़ा रहता ही था। कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे- 'मसि कागद छूवो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।' उन्होंने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, मुंह से भाखे और उनके शिष्यों ने उसे लिख लिया। आप के समस्त विचारों में रामनाम की महिमा प्रतिध्वनित होती है। वे एक ही ईश्वर को मानते थे और

कर्मकाण्ड के घोर विरोधी थे। अवतार, मूर्ति, रोजा, ईद, मसजिद, मंदिर आदि को वे नहीं मानते थे।

वे कभी कहते हैं-

श्हरिमोर पिउ, मैं राम की बहुरिया' तो कभी कहते हैं, 'हरि जननी मैं बालक तोराश।

और कभी 'बडा हुआ तो क्या हुआ जैसै

उस समय हिंदू जनता पर मुस्लिम आतंक का कहर छाया हुआ था। कबीर ने अपने पंथ को इस ढंग से सुनियोजित किया जिससे मुस्लिम मत की ओर झुकी हुई जनता सहज ही इनकी अनुयायी हो गयी। उन्होंने अपनी भाषा सरल और सुबोध रखी ताकि वह आम आदमी तक पहुंच सके। इससे दोनों सम्प्रदायों के परस्पर मिलन में सुविधा हुई। इनके पंथ मुसलमान-संस्कृति और गोभक्षण के विरोधी थे। कबीर को शांतिमय जीवन प्रिय था और वे अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि गुणों के प्रशंसक थे। अपनी सरलता, साधु स्वभाव तथा संत प्रवृत्ति के कारण आज विदेशों में भी उनका समादर हो रहा है।

उसी हालत में उन्होंने बनारस छोड़ा और आत्मनिरीक्षण तथा आत्मपरीक्षण करने के लिये देश के विभिन्न भागों की यात्रएं कीं इसी क्रम में वे कालिंजर जिले के पिथौराबाद शहर में पहुंचे। वहां रामकृष्ण का छोटा सा मन्दिर था। वहां के संत भगवान गोस्वामी के जिज्ञासु साधक थे किंतु उनके तर्कों का अभी तक पूरी तरह समाधान नहीं हुआ था। संत कबीर से उनका विचार-विनिमय हुआ। कबीर की एक साखी ने उन के मन पर गहरा असर किया-

श्बन ते भागा बिहरे पड़ा, करहा अपनी बान। करहा बेदन कासों कहे, को करहा को जान।।'

वन से भाग कर बहेलिये के द्वारा खोये हुए गड्ढ़े में गिरा हुआ हाथी अपनी व्यथा किस से कहे?

सारांश यह कि धर्म की जिज्ञासा सें प्रेरित हो कर भगवान गोसाई अपना घर छोड़ कर बाहर तो निकल आये और हरिव्यासी सम्प्रदाय के गड्ढ़े में गिर कर अकेले निर्वासित हो कर असंवा। स्थिति में पड़ चुके हैं।

मूर्ति पूजा को लक्ष्य करते हुए उन्होंने एक साखी हाजिर कर दी-

पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पूजौं पहार। वा ते तो चाकी भली, पीसी खाय संसार।।

कबीर के राम

कबीर के राम तो अगम हैं और संसार के कण-कण में विराजते हैं। कबीर के राम इस्लाम के एकेश्वरवादी, एकसत्तावादी खुदा भी नहीं हैं। इस्लाम में खुदा या अल्लाह को समस्त जगत एवं जीवों से भिन्न एवं परम समर्थ माना जाता है। पर कबीर के राम परम समर्थ भले हों, लेकिन समस्त जीवों और जगत से भिन्न तो कदापि नहीं हैं। बल्कि इसके विपरीत वे तो सबमें व्याप्त रहने वाले रमता राम हैं। वह कहते हैं

व्यापक ब्रह्म सबनिमैं एकै, को पंडित को जोगी। रावण-राव कवनसूं कवन वेद को रोगी।

कबीर राम की किसी खास रूपाकृति की कल्पना नहीं करते, क्योंकि रूपाकृति की कल्पना करते ही राम किसी खास ढांचे (फ्रेम) में बंध जाते, जो कबीर को किसी भी हालत में मंजूर नहीं। कबीर राम की अवधारणा को एक भिन्न और व्यापक स्वरूप देना चाहते थे। किन्तु इसके बावजूद कबीर राम के साथ एक व्यक्तिगत पारिवारिक किस्म का संबंध जरूर स्थापित करते हैं। राम के साथ उनका प्रेम उनकी अलौकिक और महिमाशाली सत्ता को एक क्षण भी भुलाए बगैर सहज प्रेमपरक मानवीय संबंधों के धरातल पर प्रतिष्ठित है।

कबीर नाम में विश्वास रखते हैं, रूप में नहीं। हालांकि भक्ति-संवेदना के सिद्धांतों में यह बात सामान्य रूप से प्रतिष्ठित है कि 'नाम रूप से बढ़कर है', लेकिन कबीर ने इस सामान्य सिद्धांत का क्रांतिधर्मी उपयोग किया। कबीर ने राम-नाम के साथ लोकमानस में शताब्दियों से रचे-बसे संश्लिष्ट भावों को उदात्त एवं व्यापक स्वरूप देकर उसे पुराण-प्रतिपादित ब्राह्मणवादी विचारधारा के खांचे में बांधे जाने से रोकने का प्रयास किया।

कबीर के राम निर्गुण-सगुण के भेद से परे हैं। वास्तव में उन्होंने अपने राम को शास्त्र-प्रतिपादित अवतारी, सगुण, वर्चस्वशील वर्णाश्रम व्यवस्था के संरक्षक राम से अलग करने के लिए ही 'निर्गुण राम' शब्द का प्रयोग किया-' निर्गुण राम जपहु रे भाई।' इस 'निर्गुण' शब्द को लेकर भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। कबीर का आशय इस शब्द से सिर्फ इतना है कि ईश्वर को किसी नाम, रूप, गुण, काल आदि की सीमाओं में बांधा नहीं जा सकता। जो सारी सीमाओं से परे हैं और फिर भी सर्वत्र हैं, वही कबीर के निर्गुण राम हैं। इसे उन्होंने 'रमता राम' नाम दिया है। अपने राम को निर्गुण विशेषण देने के बावजूद कबीर उनके साथ मानवीय प्रेम संबंधों की तरह के रिश्ते की बात करते हैं। कभी वह राम

को माधुर्य भाव से अपना प्रेमी या पति मान लेते हैं तो कभी दास्य भाव से स्वामी। कभी-कभी वह राम को वात्सल्य मूर्ति के रूप में मां मान लेते हैं और खुद को उनका पुत्र। निर्गुण-निराकार ब्रह्म के साथ भी इस तरह का सरस, सहज, मानवीय प्रेम कबीर की भक्ति की विलक्षणता है। यह दुविधा और समस्या दूसरों को भले हो सकती है कि जिस राम के साथ कबीर इतने अनन्य, मानवीय संबंधपरक प्रेम करते हों, वह भला निर्गुण कैसे हो सकते हैं, पर खुद कबीर के लिए यह समस्या नहीं है। वह कहते भी हैं।

"संतौ, धोखा कासूं कहिये। गुनमैं निरगुन, निरगुनमैं गुन, बाट छांड़ि क्यूं बहिसे!" नहीं है।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने कबीर के राम एवं कबीर की साधना के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है। 'कबीर का सारा जीवन सत्य की खोज तथा असत्य के खंडन में व्यतीत हुआ। कबीर की साधना ''मानने से नहीं, 'जानने से आरम्भ होती है। वे किसी के शिष्य नहीं, रामानन्द द्वारा चेताये हुए चेला हैं। उनके लिए राम रूप नहीं है, दशरथी राम नहीं है, उनके राम तो नाम साधना के प्रतीक हैं। उनके राम किसी सम्प्रदाय, जाति या देश की सीमाओं में कैद नहीं है। प्रकृति के कण-कण में, अंग-अंग में रमण करने पर भी जिसे अनंग स्पर्श नहीं कर सकता, वे अलख, अविनाशी, परम तत्व ही राम हैं। उनके राम मनुष्य और मनुष्य के बीच किसी भेद-भाव के कारक नहीं हैं। वे तो प्रेम तत्व के प्रतीक हैं। भाव से ऊपर उठकर महाभाव या प्रेम के आराध्य हैं :-

'प्रेम जगावै विरह को, विरह जगावै पीउ, पीउ जगावै जीव को, जोइ पीउ सोई जीउ'-जो पीउ है, वही जीव है। इसी कारण उनकी पूरी साधना ''हंस उबारन आए की साधना है। इस हंस का उबारना पोथियों के पढ़ने से नहीं हो सकता, ढाई आखर प्रेम के आचरण से ही हो सकता है। धर्म ओढ़ने की चीज नहीं है, जीवन में आचरण करने की सतत सत्य साधना है। उनकी साधना प्रेम से आरम्भ होती है। इतना गहरा प्रेम करो कि वही तुम्हारे लिए परमात्मा हो जाए। उसको पाने की इतनी उत्कण्ठा हो जाए कि सबसे वैराग्य हो जाए, विरह भाव हो जाए तभी उस ध्यान समाधि में पीउ जाग्रत हो सकता है। वही पीउ तुम्हारे अर्न्तमन में बैठे जीव को जगा सकता है। जोई पीउ है सोई जीउ है। तब तुम पूरे संसार से प्रेम करोगे, तब संसार का प्रत्येक जीव तुम्हारे प्रेम का पात्र बन जाएगा। सारा अहंकार, सारा द्वेष दूर हो जाएगा। फिर महाभाव जगेगा। इसी महाभाव से पूरा संसार पिउ का घर हो जाता है।

सूरज चन्द्र का एक ही उजियारा, सब यहि पसरा ब्रह्म पसारा।
जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी
फूटा कुम्भ जल जलहीं समाना, यह तथ कथौ गियानी।'

सन्त दादू दयाल

दादू दयाल (1544–1603 ई.) हिन्दी के भक्तिकाल में ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख सन्त कवि थे। इनके 52 पट्टशिष्य थे, जिनमें गरीबदास, सुंदरदास, रज्जब और बखना मुख्य हैं। दादू के नाम से 'दादू पंथ' चल पड़ा। ये अत्यधिक दयालु थे। इस कारण इनका नाम 'दादू दयाल' पड़ गया। दादू हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि कई भाषाओं के ज्ञाता थे। इन्होंने शबद और साखी लिखीं। इनकी रचना प्रेमभावपूर्ण है। जात–पाँत के निराकरण, हिन्दू–मुसलमानों की एकता आदि विषयों पर इनके पद तर्क–प्रेरित न होकर हृदय–प्रेरित हैं।

परिचय

सन्त दादू दयाल जी महाराज का अवतार संवत् 1601 वि. में भारतवर्ष के गुजरात राज्य के अहमदाबाद नगर में हुआ था। कहा जाता है कि लोधी राम नामक ब्राह्मण को साबरमती, में बहता हुआ एक बालक मिला। अधेड़ आयु के उपरांत भी लोधीराम के कोई पुत्र नहीं था जिसकी उन्हें सदा लालसा रहती थी।

एक दिन उन्हें एक सिद्ध संत के दर्शन हुए और उन्होंने अपनी हार्दिक व्यथा उन संत को कह सुनाई। संत ने शरणागत जानकर लोधीराम को पुत्र रत्न की प्राप्ति का वरदान दिया और कहा 'साबरमती नदी में तैरते कमल पत्र पर शयन करते बालक को अपने घर ले आना वही तुम्हारा पुत्र होगा' पुत्र प्राप्ति की कामना लेकर श्री लोधीराम ब्राहमण साबरमती नदी के तट पर गए जहाँ उन्हें पानी पर तैरते कमल पर लेटा हुआ बालक प्राप्त हुआ। इस प्रकार शुभमिति फाल्गुन शुक्ल अष्टमी गुरुवार के दिन विक्रम संवत् 1601 में संत शिरोमणि सदगुरु श्री दादू दयाल जी महाराज का अवतार हुआ।

अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु परोपकार के लिए तुरंत दे देने के स्वाभाव के कारण उनका नाम "दादू" रखा गया। आप दया दीनता व करुणा के खजाने थे, क्षमा शील और संतोष के कारण आप 'दयाल' अर्थात् "दादू दयाल" कहलाये।

विक्रम सं. 1620 में 12 वर्ष की अवस्था में दादू जी गृह त्याग कर सत्संग के लिए निकल पड़े, केवल प्रभु चिंतन में ही लीन हो गए। अहमदाबाद से

प्रस्थान कर भ्रमण करते हुए राजस्थान की आबू पर्वतमाला, तीर्थराज पुष्कर से होते हुए करडाला धाम (जिला जयपुर) पधारे और पूरे 6 वर्षों तक लगातार प्रभु की साधना की कठोर साधना से इन्द्र को आशंका हुई कि कहीं इन्द्रासन छीनने के लिए तो वे तपस्या नहीं कर रहे, इसीलिए इंद्र ने उनकी साधना में विघ्न डालने के लिए अप्सरा रूप में माया को भेजा। जिसने साधना में बाधा डालने के लिए अनेक उपाय किये मगर उस महान संत ने माया में व अपने में एकात्म दृष्टि से बहन और भाई का सनातन प्रतिपादित कर उसके प्रेमचक्र को एक पवित्र सूत्र से बाँध कर शांत कर दिया।

संत दादू जी विक्रम सं. 1625 में सांभर पधारे यहाँ उन्होंने मानव-मानव के भेद को दूर करने वाले, सच्चे मार्ग का उपदेश दिया। तत्पश्चात् दादू जी महाराज आमेर पधारे तो वहां की सारी प्रजा और राजा उनके भक्त हो गए।

उसके बाद वे फतेहपुर सीकरी भी गए जहाँ पर बादशाह अकबर ने पूर्ण भक्ति व भावना से दादू जी के दर्शन कर उनके सत्संग व उपदेश ग्रहण करने के इच्छा प्रकट की तथा लगातार 40 दिनों तक दादू जी से सत्संग करते हुए उपदेश ग्रहण किया। दादू जी के सत्संग से प्रभावित होकर अकबर ने अपने समस्त साम्राज्य में गौ हत्या बंदी का फरमान लागू कर दिया।

उसके बाद दादू जी महाराज नराणा(जिला जयपुर) पधारे और उन्होंने इस नगर को साधना, विश्राम तथा धाम के लिए चुना और यहाँ एक खेजड़े के वृक्ष के नीचे विराजमान होकर लम्बे समय तक तपस्या की और आज भी खेजडा जी के वृक्ष के दर्शन मात्र से तीनों प्रकार के ताप नष्ट होते हैं। यहीं पर उन्होंने ब्रह्मधाम "दादू द्वारा" की स्थापना की जिसके दर्शन मात्र से आज भी सभी मनोकामनाएँ पूर्ण होती है। तत्पश्चात् श्री दादू जी ने सभी संत शिष्यों को अपने ब्रह्मलीन होने का समय बताया।

ब्रह्मलीन होने के लिए निर्धारित दिन (जयेष्ट कृष्ण अष्टमी सम्वत् 1660) के शुभ समय में श्री दादू जी ने एकांत में ध्यानमग्न होते हुए "सत्यराम" शब्द का उच्चारण कर इस संसार से ब्रह्मलोक को प्रस्थान किया। श्री दादू दयाल जी महाराज के द्वारा स्थापित "दादू पंथ" व "दादू पीठ" आज भी मानव मात्र की सेवा में निर्विघ्न लीन है। वर्तमान में दादू धाम के पीठाधीश्वर के रूप में आचार्य महंत श्री गोपालदास जी महाराज विराजमान हैं।

वर्तमान में भी प्रतिवर्ष फाल्गुन शुक्ल अष्टमी पर नरेना धाम में भव्य मेले का आयोजन होता है तथा इस अवसर पर एक माह के लिए भारत सरकार के

आदेश अनुसार वहां से गुजरने वाली प्रत्येक रेलगाड़ी का नराणा स्टेशन पर ठहराव रहता है।

उनके उपदेशों को उनके शिष्य रज्जब जी ने "दादू अनुभव वाणी" के रूप में समाहित किया, जिसमें लगभग 5000 दोहे शामिल हैं। संतप्रवर श्री दादू दयाल जी महाराज को निर्गुण संतों जैसे की कबीर व गुरु नानक के समकक्ष माना जाता है तथा उनके उपदेश व दोहे आज भी समाज को सही राह दिखाते आ रहे हैं।

दादू पन्थ

दादू के जीवन में ही जितनी बड़ी संख्या में शिष्य-प्रशिष्य दादू के बने, सम्भवत: उतने शिष्य किसी अन्य संत के नहीं बनें। दादू के 52 मुख्य शिष्य बनें। दादू पंथी संतों में एक बहुत बड़ी संख्या पढ़े-लिखे संतों की है। जगजीवन दास जैसे शास्त्रार्थी, सुन्दरदास जैसे प्रकाण्ड शास्त्र पण्डित और साधु निश्चलदास जैसे दार्शनिक दादू पंथी ही थे। संत साहित्य के संरक्षण और संवर्द्धन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य दादू पंथियों ने किया। इन संतों ने अपने गुरु की वाणियों को संरक्षित तो किया ही, पूर्ववर्ती तमाम संतों की वाणियों का संरक्षण भी किया।

गुरु नानक

नानक (पंजाबी:) (कार्तिक पूर्णिमा 1469–22 सितंबर 1539) सिखों के प्रथम (आदि)गुरु हैं। इनके अनुयायी इन्हें नानक, नानक देव जी, बाबा नानक और नानकशाह नामों से संबोधित करते हैं। नानक अपने व्यक्तित्त्व में दार्शनिक, योगी, गृहस्थ, धर्मसुधारक, समाज सुधारक, कवि, देशभक्त और विश्वबंधु - सभी के गुण समेटे हुए थे।

इनका जन्म रावी नदी के किनारे स्थित तलवंडी नामक गाँव में कार्तिकी पूर्णिमा को एक खत्रीकुल में हुआ था। तलवंडी पकिस्तान में पजाब प्रान्त का एक शहर हैं। कुछ विद्वान इनकी जन्मतिथि 15 अप्रैल, 1469 मानते हैं। किंतु प्रचलित तिथि कार्तिक पूर्णिमा ही है, जो अक्टूबर-नवंबर में दीवाली के 15 दिन बाद पड़ती है।

इनके पिता का नाम मेहता कालू जी था, माता का नाम तृप्ता देवी था। तलवंडी का नाम आगे चलकर नानक के नाम पर ननकाना पड़ गया। इनकी बहन का नाम नानकी था।

विद्यालय जाते हुए बालक नानक

बचपन से इनमें प्रखर बुद्धि के लक्षण दिखाई देने लगे थे। बालपन से ही ये सांसारिक विषयों से उदासीन रहा करते थे। पढ़ने लिखने में इनका मन नहीं लगा। 7–8 साल की उम्र में स्कूल छूट गया क्योंकि भगवत्प्राप्ति के संबंध में इनके प्रश्नों के आगे अध्यापक ने हार मान ली तथा वे इन्हें ससम्मान घर छोड़ने आ गए। तत्पश्चात् सारा समय वे आध्यात्मिक चिंतन और सत्संग में व्यतीत करने लगे। बचपन के समय में कई चमत्कारिक घटनाएं घटी जिन्हें देखकर गाँव के लोग इन्हें दिव्य व्यक्तित्त्व मानने लगे। बचपन के समय से ही इनमें श्रद्धा रखने वालों में इनकी बहन नानकी तथा गाँव के शासक राय बुलार प्रमुख थे।

नानक के सिर पर सर्प द्वारा छाया करने का दृश्य देखकर राय बुलार का नतमस्तक होना।

इनका विवाह बालपन में सोलह वर्ष की आयु में गुरदासपुर जिले के अंतर्गत लाखौकी नामक स्थान के रहने वाले मूला की कन्या सुलक्खनी से हुआ था। 32 वर्ष की अवस्था में इनके प्रथम पुत्र श्रीचंद का जन्म हुआ। चार वर्ष पश्चात् दूसरे पुत्र लखमीदास का जन्म हुआ। दोनों लड़कों के जन्म के उपरांत 1507 में नानक अपने परिवार का भार अपने 'वसुर पर छोड़कर, मरदाना, लहना, बाला और रामदास इन चार साथियों को लेकर तीर्थयात्रा के लिये निकल पड़े।

उदासियाँ

गुरु नानाक देव जी की यात्राएं

ये चारों ओर घूमकर उपदेश करने लगे। 1521 तक इन्होंने चार यात्राचक्र पूरे किए, जिनमें भारत, अफगानिस्तान, फारस और अरब के मुख्य-मुख्य स्थानों का भ्रमण किया। इन यात्राओं को पंजाबी में 'उदासियाँ' कहा जाता है।

दर्शन

मक्का में गुरु नानक देव जी

नानक सर्वेश्वरवादी थे। मूर्तिपूजा उन्होंने सनातन मत की मूर्तिपूजा की शैली के विपरीत एक परमात्मा की उपासना का एक अलग मार्ग मानवता को दिया। उन्होंने हिंदू धर्म में फैली कुरीतियों का सदैव विरोध किया। उनके दर्शन

में सूफियों जैसी थी। साथ ही उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक स्थितियों पर भी नजर डाली है। संत साहित्य में नानक उन संतों की श्रेणी में हैं जिन्होंने नारी को बड़प्पन दिया है।

इनके उपदेश का सार यही होता था कि ईश्वर एक है उसकी उपासना हिंदू, मुसलमान दोनों के लिये हैं। मूर्तिपूजा, बहुदेवोपासना को ये अनावश्यक कहते थे। हिंदू और मुसलमान दोनों पर इनके मत का प्रभाव पड़ता था।

मृत्यु

जीवन के अंतिम दिनों में इनकी ख्याति बहुत बढ़ गई और इनके विचारों में भी परिवर्तन हुआ। स्वयं ये अपने परिवार वर्ग के साथ रहने लगे और मानवता कि सेवा में समय व्यतीत करने लगे। उन्होंने करतारपुर नामक एक नगर बसाया, जो कि अब पाकिस्तान में है और एक बड़ी धर्मशाला उसमें बनवाई। इसी स्थान पर आश्वन कृष्ण 10, संवत् 1597 (22 सितंबर 1539 ईस्वीं) को इनका परलोकवास हुआ। मृत्यु से पहले उन्होंने अपने शिष्य भाई लहना को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया जो बाद में गुरु अंगद देव के नाम से जाने गए।

कविताएं

नानक अच्छे सूफी कवि भी थे। उनके भावुक और कोमल हृदय ने प्रकृति से एकात्म होकर जो अभिव्यक्ति की है, वह निराली है। उनकी भाषा 'बहता नीर' थी जिसमें फारसी, मुल्तानी, पंजाबी, सिंधी, खड़ी बोली, अरबी के शब्द समा गए थे।

रचनाएँ

गुरु ग्रन्थ साहिब में सम्मिलित 974 शब्द (19 रागों में), गुरबाणी में शामिल है- tith, Sidh Gohst, सोहिला, दखनी ओंकार, आसा दी वार, Patti, बारह माह।

गुरु ग्रन्थ साहिब

इनके जीवन से जुड़े प्रमुख गुरुद्वारा साहिब

1. गुरुद्वारा कंध साहिब- बटाला (गुरुदासपुर) गुरु नानक का यहाँ बीबी सुलक्षणा से 18 वर्ष की आयु में संवत् 1544 की 24वीं जेठ को विवाह

हुआ था। यहाँ गुरु नानक की विवाह वर्षगाँठ पर प्रतिवर्ष उत्सव का आयोजन होता है।

2. गुरुद्वारा हाट साहिब– सुल्तानपुर लोधी (कपूरथला) गुरुनानक ने बहनोई जैराम के माध्यम से सुल्तानपुर के नवाब के यहाँ शाही भंडार के देख-रेख की नौकरी प्रारंभ की। वे यहाँ पर मोदी बना दिए गए। नवाब युवा नानक से काफी प्रभावित थे। यहीं से नानक को 'तेरा' शब्द के माध्यम से अपनी मंजिल का आभास हुआ था।

3. गुरुद्वारा गुरु का बाग– सुल्तानपुर लोधी (कपूरथला) यह गुरु नानकदेव जी का घर था, जहाँ उनके दो बेटों बाबा श्रीचंद और बाबा लक्ष्मीदास का जन्म हुआ था।

4. गुरुद्वारा कोठी साहिब– सुल्तानपुर लोधी (कपूरथला) नवाब दौलतखान लोधी ने हिसाब-किताब में गड़बड़ी की आशंका में नानकदेव जी को जेल भिजवा दिया। लेकिन जब नवाब को अपनी गलती का पता चला तो उन्होंने नानकदेवजी को छोड़ कर माफी ही नहीं माँगी, बल्कि प्रधानमंत्री बनाने का प्रस्ताव भी रखा, लेकिन गुरु नानक ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

5. गुरुद्वारा बेर साहिब– सुल्तानपुर लोधी (कपूरथला) जब एक बार गुरु नानक अपने सखा मर्दाना के साथ वैन नदी के किनारे बैठे थे तो अचानक उन्होंने नदी में डुबकी लगा दी और तीन दिनों तक लापता हो गए, जहाँ पर कि उन्होंने ईश्वर से साक्षात्कार किया। सभी लोग उन्हें डूबा हुआ समझ रहे थे, लेकिन वे वापस लौटे तो उन्होंने कहा– एक ओंकार सतिनाम। गुरु नानक ने वहाँ एक बेर का बीज बोया, जो आज बहुत बड़ा वृक्ष बन चुका है।

6. गुरुद्वारा अचल साहिब– गुरुदासपुर अपनी यात्राओं के दौरान नानकदेव यहाँ रुके और नाथपंथी योगियों के प्रमुख योगी भांगर नाथ के साथ उनका धार्मिक वाद-विवाद यहाँ पर हुआ। योगी सभी प्रकार से परास्त होने पर जादुई प्रदर्शन करने लगे। नानकदेव जी ने उन्हें ईश्वर तक प्रेम के माध्यम से ही पहुँचा जा सकता है, ऐसा बताया।

7. गुरुद्वारा डेरा बाबा नानक– गुरुदासपुर जीवनभर धार्मिक यात्राओं के माध्यम से बहुत से लोगों को सिख धर्म का अनुयायी बनाने के बाद नानकदेव जी रावी नदी के तट पर स्थित अपने फार्म पर अपना डेरा जमाया और 70 वर्ष की साधना के पश्चात सन् 1539 ई. में परम ज्योति में विलीन हुए।

8. ईस्वीं संवत 2019, सिक्खों के आदि गुरु, गुरुनानक जी, के जन्म का 550 प्रकाश पर्व या वर्ष है। 9 नवम्बर, 2019 (शनिवार) के दिन प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी ने पंजाब के गुरदासपुर जिले के डेरा बाबा नानक चेकपोस्ट से गुरूनानक जी के पाकिस्तान के पंजाब प्रान्त के नारोवाल जिले में स्थित समाधि-स्थल पर निर्मित गुरुद्वारा करतारपुर साहिब या गुरुद्वारा दरबार साहिब को जोड़ने वाले 4.5 किलोमीटर लम्बे गलियारे के जरिये लगभग 500 तीर्थयात्रियों के पहले जत्थे को हरी झंडी दिखाकर रवाना किया।

पीपाजी

पीपाजी (14वीं-15वीं शताब्दी) गागरोन के शाक्त राजा एवं सन्त कवि थे। वे भक्ति आंदोलन के प्रमुख संतों में से एक थे। गुरु ग्रंथ साहिब के अलावा 27 पद, 154 साखियां, चितावणि व क-कहारा जोग ग्रंथ इनके द्वारा रचित संत साहित्य की अमूल्य निधियां हैं।

भक्तराज पीपाजी का जन्म विक्रम संवत् 1380 में राजस्थान में कोटा से 45 मील पूर्व दिशा में गागरोन में हुआ था। वे चौहान गौत्र की खींची वंश शाखा के प्रतापी राजा थे। सर्वमान्य तथ्यों के आधार पर पीपानन्दाचार्य जी का जन्म चौत्र शुक्ल पूर्णिमा, बुधवार विक्रम संवत् 1380 तदानुसार दिनांक 23 अप्रैल, 1323 को हुआ था। उनके बचपन का नाम प्रतापराव खींची था। उच्च राजसी शिक्षा-दीक्षा के साथ इनकी रुचि आध्यात्म की ओर भी थी, जिसका प्रभाव उनके साहित्य में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। किंवदंतियों के अनुसार आप अपनी कुलदेवी से प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते थे व उनसे बात भी किया करते थे।

पिता के देहांत के बाद संवत् 1400 में आपका गागरोन के राजा के रूप में राज्याभिषेक हुआ। अपने अल्प राज्यकाल में पीपाराव जी द्वारा फिरोजशाह तुगलक, मलिक जर्दफिरोज व लल्लन पठान जैसे योद्धाओं को पराजित कर अपनी वीरता का लोहा मनवाया। आपकी प्रजा-प्रियता व नीति कुशलता के कारण आज भी आपको गागरोन व मालवा के सबसे प्रिय राजा के रूप में मान-सम्मान दिया जाता है।

रामानंद की सेवा में

दैवीय प्रेरणा से पीपाराव गुरु की तलाश में काशी के संतश्रेष्ठ जगतगुरु रामानन्दाचार्य जी की शरण में आ गए तथा गुरु आदेश पर कुंए में कूदने को तैयार

हो गए। रामानन्दाचार्य जी आपसे बहुत प्रभावित हुए व पीपाराव को गागरोन जाकर प्रजा सेवा करते हुए भक्ति करने व राजसी संत जीवन व्यतित करने का आदेश दिया। एक वर्ष पश्चात् संत रामानन्दाचार्य जी अपनी शिष्य मंडली के साथ गागरोन पधारे व पीपाजी के करुण निवेदन पर आसाढ़ शुक्ल पूर्णिमा (गुरु पूर्णिमा) संवत् 1414 को दीक्षा देकर वैष्णव धर्म के प्रचार के लिये नियुक्त किया। पीपाराव ने अपना सारा राज-पाठ अपने भतीजे कल्याण राव को सौंपकर गुरूआज्ञा से अपनी सबसे छोटी रानी सीता जी के साथ वैष्णव -धर्म प्रचार-यात्रा पर निकल पड़े।

चमत्कार

पीपानन्दाचार्य जी का संपूर्ण जीवन चमत्कारों से भरा हुआ है। राजकाल में देवीय साक्षात्कार करने का चमत्कार प्रमुख है उसके बाद सन्यास काल में स्वर्ण द्वारिका में 7 दिनों का प्रवास, पीपाड़ाव में रणछोड़राय जी की प्रतिमाओं को निकालना व अकालग्रस्त स्थान पर अन्नक्षेत्र चलाना, सिंह को अहिंसा का उपदेश देना, लाठियों को हरे बांस में बदलना, एक ही समय में पांच विभिन्न स्थानों पर उपस्थित होना, मृत तेली को जीवनदान देना, सीता जी का सिंहनी के रूप में आना आदि कई चमत्कार जनश्रुतियों में प्रचलित हैं।

रचना की संभाल

गुरु नानक देव जी ने आपकी रचना आपके पोते अनंतदास के पास से टोडा नगर में ही प्राप्त की। इस बात का प्रमाण अनंतदास द्वारा लिखित 'परचई' के पच्चीसवें प्रसंग से भी मिलता है। इस रचना को बाद में गुरु अर्जुन देव जी ने गुरु ग्रंथ साहिब में जगह दी।

रचना

पीपाजी की रचना का एक नमूना
कायउ देवा काइअउ देवल काइअउ जंगम जाती ?।
काइअउ धूप दीप नईबेदा काइअउ पूजउ पाती ।1।
काइआ बहु खंड खोजते नव निधि पाई ।
ना कछु आइबो ना कछु जाइबो राम की दुहाई ।1। रहाउ ।
जो ब्रहमंडे सोई पिंडे जो खोजै सो पावै ।

पीपा प्रणवै परम ततु है सतिगुरु होइ लखावै ।2।3।
जो ब्रहमंडे सोई पिंडे जो खोजे सो पावै।
(गुरु ग्रंथ साहिब, पन्ना 685)
(जो प्रभु पूरे ब्रह्माँड में मौजूद है, वह मनुष्य के हृदय में भी विद्यमान है।)
पीपा प्रणवै परम ततु है, सतिगुरु होए लखावै।2।
(गुरु ग्रंथ साहिब, पन्ना 685)
(पीपा परम तत्त्व की आराधना करता है, जिसके दर्शन पूर्ण सतिगुरु द्वारा किये जाते हैं।)

तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास (1511 - 1623) हिंदी साहित्य के महान कवि थे। इनका जन्म सोरों शूकरक्षेत्र, वर्तमान में कासगंज (एटा) उत्तर प्रदेश में हुआ था। कुछ विद्वान् आपका जन्म राजापुर जिला बाँदा(वर्तमान में चित्रकूट) में हुआ मानते हैं। कुछ विद्वान तुलसीदास का जन्म गोण्डा जिला के सुकरखेत को भी मानते हैं। इन्हें आदि काव्य रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि का अवतार भी माना जाता है। श्रीरामचरितमानस् का कथानक रामायण से लिया गया है। रामचरितमानस् लोक ग्रन्थ है और इसे उत्तर भारत में बड़े भक्तिभाव से पढ़ा जाता है। इसके बाद विनय पत्रिका उनका एक अन्य महत्त्वपूर्ण काव्य है। महाकाव्य श्रीरामचरितमानस् को विश्व के 100 सर्वश्रेष्ठ लोकप्रिय काव्यों में 46वाँ स्थान दिया गया।

जन्म

अधिकांश विद्वान तुलसीदास का जन्म स्थान राजापुर को मानने के पक्ष में हैं। यद्यपि कुछ इसे सोरों शूकरक्षेत्र भी मानते हैं। राजापुर उत्तर प्रदेश के चित्रकूट जिले के अंतर्गत स्थित एक गाँव है। वहाँ आत्माराम दुबे नाम के एक प्रतिष्ठित ¨nadhya uannkl भक्तिकाल में पुष्टिमार्गीय अष्टछाप के कवि नंददास जी का जन्म जनपद- कासगंज के सोरों शूकरक्षेत्र अन्तर्वेदी रामपुर (वर्तमान- 'श्यामपुर) गाँव निवासी भारद्वाज गोत्रीय सनाढ्य ब्राह्मण पं0 सच्चिदानंद शुक्ल के पुत्र पं0 जीवाराम शुक्ल की पत्नी चंपा के गर्भ से हुआ था। पं0 सच्चिदानंद के दो पुत्र थे, पं0 आत्माराम शुक्ल और पं0 जीवाराम शुक्ल। पं0 आत्माराम शुक्ल एवं हुलसी के पुत्र का नाम महाकवि गोस्वामी

तुलसीदास था, जिन्होंने श्रीरामचरितमानस् महाग्रंथ की रचना की थी। नंददास जी के छोटे भाई का नाम चँदहास था। नंददास जी, तुलसीदास जी के सगे चचेरे भाई थे। नंददास जी के पुत्र का नाम कृष्णदास था। नंददास ने कई रचनाएँ- रसमंजरी, अनेकार्थमंजरी, भागवत्-दशम स्कंध, 'श्याम सगाई, गोवर्धन लीला, सुदामा चरित, विरह मंजरी, रूप मंजरी, रुक्मिणी मंगल, रासपंचाध्यायी, भँवर गीत, सिद्धांत पंचाध्यायी, नंददास पदावली हैं। उनकी धर्मपत्नी का नाम हुलसी था। संवत् 1511 के श्रावण मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी तिथि के दिन अभुक्त मूल नक्षत्र में इन्हीं दम्पति के यहाँ तुलसीदास का जन्म हुआ। प्रचलित जनश्रुति के अनुसार शिशु बारह महीने तक माँ के गर्भ में रहने के कारण अत्यधिक हृष्ट-पुष्ट था और उसके मुख में दाँत दिखायी दे रहे थे। जन्म लेने के साथ ही उसने राम नाम का उच्चारण किया जिससे उसका नाम रामबोला पड़ गया। उनके जन्म के दूसरे ही दिन माँ का निधन हो गया। पिता ने किसी और अनिष्ट से बचने के लिये बालक को चुनियाँ नाम की एक दासी को सौंप दिया और स्वयं विरक्त हो गये। जब रामबोला साढ़े पाँच वर्ष का हुआ तो चुनियाँ भी नहीं रही। वह गली-गली भटकता हुआ अनाथों की तरह जीवन जीने को विवश हो गया।

बचपन

भगवान शंकर जी की प्रेरणा से रामशैल पर रहने वाले श्री अनन्तानन्द जी के प्रिय शिष्य श्रीनरहर्यानन्द जी (नरहरि बाबा) ने इस रामबोला के नाम से बहुचर्चित हो चुके इस बालक को ढूँढ़ निकाला और विधिवत् उसका नाम तुलसीराम रखा। तदुपरान्त वे उसे अयोध्या (उत्तर प्रदेश) ले गये और वहाँ संवत् 1561 माघ शुक्ला पंचमी (शुक्रवार) को उसका यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न कराया। संस्कार के समय भी बिना सिखाये ही बालक रामबोला ने गायत्री-मन्त्र का स्पष्ठ उच्चारण किया, जिसे देखकर सब लोग चकित हो गये। इसके बाद नरहरि बाबा ने वैष्णवों के पाँच संस्कार करके बालक को राम-मन्त्र की दीक्षा दी और अयोध्या में ही रहकर उसे विद्याध्ययन कराया। बालक रामबोला की बुद्धि बड़ी प्रखर थी। वह एक ही बार में गुरु-मुख से जो सुन लेता, उसे वह कंठस्थ हो जाता। वहाँ से कुछ काल के बाद गुरु-शिष्य दोनों शूकरक्षेत्र (सोरों) पहुँचे। वहाँ नरहरि बाबा ने बालक को राम-कथा सुनायी किन्तु वह उसे भली-भाँति समझ न आयी।

ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी, गुरुवार, संवत् 1583 को 29 वर्ष की आयु में राजापुर से थोडी ही दूर यमुना के उस पार स्थित एक गाँव की अति सुन्दरी भारद्वाज गोत्र की कन्या रत्नावली के साथ उनका विवाह हुआ। चूँकि गौना नहीं हुआ था, अतः कुछ समय के लिये वे काशी चले गये और वहाँ शेष सनातन जी के पास रहकर वेद-वेदांग के अध्ययन में जुट गये। वहाँ रहते हुए अचानक एक दिन उन्हें अपनी पत्नी की याद आयी और वे व्याकुल होने लगे। जब नहीं रहा गया तो गुरूजी से आज्ञा लेकर वे अपनी जन्मभूमि राजापुर लौट आये। पत्नी रत्नावली चूँकि मायके में ही थी क्योंकि तब तक उनका गौना नहीं हुआ था, अतः तुलसीराम ने भयंकर अँधेरी रात में उफनती यमुना नदी तैरकर पार की और सीधे अपनी पत्नी के शयन-कक्ष में जा पहुँचे। रत्नावली इतनी रात गये अपने पति को अकेले आया देख कर आश्चर्यचकित हो गयी। उसने लोक-लज्जा के भय से जब उन्हें चुपचाप वापस जाने को कहा तो वे उससे उसी समय घर चलने का आग्रह करने लगे। उनकी इस अप्रत्याशित जिद से खीझकर रत्नावली ने स्वरचित एक दोहे के माध्यम से जो शिक्षा उन्हें दी उसने ही तुलसीराम को तुलसीदास बना दिया। रत्नावली ने जो दोहा कहा था वह इस प्रकार है–

अस्थि चर्म मय देह यह, ता सों ऐसी प्रीति !
नेकु जो होती राम से, तो काहे भव-भीत ?

यह दोहा सुनते ही उन्होंने उसी समय पत्नी को वहीं उसके पिता के घर छोड़ दिया और वापस अपने गाँव राजापुर लौट गये। राजापुर में अपने घर जाकर जब उन्हें यह पता चला कि उनकी अनुपस्थिति में उनके पिता भी नहीं रहे और पूरा घर नष्ट हो चुका है तो उन्हें और भी अधिक कष्ट हुआ। उन्होंने विधि-विधान पूर्वक अपने पिता जी का श्राद्ध किया और गाँव में ही रहकर लोगों को भगवान राम की कथा सुनाने लगे।

भगवान श्री राम जी से भेंट

कुछ काल राजापुर रहने के बाद वे पुनः काशी चले गये और वहाँ की जनता को राम-कथा सुनाने लगे। कथा के दौरान उन्हें एक दिन मनुष्य के वेश में एक प्रेत मिला, जिसने उन्हें हनुमान जी का पता बतलाया। हनुमान जी से मिलकर तुलसीदास ने उनसे श्रीरघुनाथजी का दर्शन कराने की प्रार्थना की। हनुमान जी ने कहा- 'तुम्हें चित्रकूट में रघुनाथ जी दर्शन होंगें।' इस पर तुलसीदास जी चित्रकूट की ओर चल पड़े।

चित्रकूट पहुँच कर उन्होंने रामघाट पर अपना आसन जमाया। एक दिन वे प्रदक्षिणा करने निकले ही थे कि यकायक मार्ग में उन्हें श्रीराम के दर्शन हुए। उन्होंने देखा कि दो बड़े ही सुन्दर राजकुमार घोड़ों पर सवार होकर धनुष-बाण लिये जा रहे हैं। तुलसीदास उन्हें देखकर आकर्षित तो हुए, परन्तु उन्हें पहचान न सके। तभी पीछे से हनुमान्जी ने आकर जब उन्हें सारा भेद बताया तो वे पश्चाताप करने लगे। इस पर हनुमान्जी ने उन्हें सांत्वना दी और कहा प्रातःकाल फिर दर्शन होंगे।

संवत् 1607 की मौनी अमावस्या को बुधवार के दिन उनके सामने भगवान श्री राम जी पुनः प्रकट हुए। उन्होंने बालक रूप में आकर तुलसीदास से कहा-'बाबा! हमें चन्दन चाहिये क्या आप हमें चन्दन दे सकते हैं?' हनुमान जी ने सोचा, कहीं वे इस बार भी धोखा न खा जायें, इसलिये उन्होंने तोते का रूप धारण करके यह दोहा कहा:

चित्रकूट के घाट पर, भइ सन्तन की भीर।
तुलसिदास चन्दन घिसें, तिलक देत रघुबीर।

तुलसीदास भगवान श्री राम जी की उस अद्भुत छवि को निहार कर अपने शरीर की सुध-बुध ही भूल गये। अन्ततोगत्वा भगवान ने स्वयं अपने हाथ से चन्दन लेकर अपने तथा तुलसीदास जी के मस्तक पर लगाया और अन्तर्ध्यान हो गये।

संस्कृत में पद्य-रचना

संवत् 1628 में वह हनुमान जी की आज्ञा लेकर अयोध्या की ओर चल पड़े। उन दिनों प्रयाग में माघ मेला लगा हुआ था। वे वहाँ कुछ दिन के लिये ठहर गये। पर्व के छः दिन बाद एक वटवृक्ष के नीचे उन्हें भारद्वाज और याज्ञवल्क्य मुनि के दर्शन हुए। वहाँ उस समय वही कथा हो रही थी, जो उन्होंने शूकरक्षेत्र में अपने गुरु से सुनी थी। माघ मेला समाप्त होते ही तुलसीदास जी प्रयोग से पुनः वापस काशी आ गये और वहाँ के प्रह्लादघाट पर एक ब्राह्मण के घर निवास किया। वहीं रहते हुए उनके अन्दर कवित्व-शक्ति का प्रस्फुटण हुआ और वे संस्कृत में पद्य-रचना करने लगे। परन्तु दिन में वे जितने पद्य रचते, रात्रि में वे सब लुप्त हो जाते। यह घटना रोज घटती। आठवें दिन तुलसीदास जी को स्वप्न हुआ। भगवान शंकर ने उन्हें आदेश दिया कि तुम अपनी भाषा में काव्य रचना करो। तुलसीदास जी की नींद उचट गयी। वे

उठकर बैठ गये। उसी समय भगवान शिव और पार्वती उनके सामने प्रकट हुए। तुलसीदास जी ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। इस पर प्रसन्न होकर शिव जी ने कहा- 'तुम अयोध्या में जाकर रहो और हिन्दी में काव्य-रचना करो। मेरे आशीर्वाद से तुम्हारी कविता सामवेद के समान फलवती होगी।' इतना कहकर गौरीशंकर अन्तर्ध्यान हो गये। तुलसीदास जी उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर काशी से सीधे अयोध्या चले गये।

रामचरितमानस की रचना

संवत् 1631 का प्रारम्भ हुआ। दैवयोग से उस वर्ष रामनवमी के दिन वैसा ही योग आया जैसा त्रेतायुग में राम-जन्म के दिन था। उस दिन प्रातःकाल तुलसीदास जी ने श्रीरामचरितमानस् की रचना प्रारम्भ की। दो वर्ष, सात महीने और छ्ब्बीस दिन में यह अद्भुत ग्रन्थ सम्पन्न हुआ। संवत् 1633 के मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष में राम-विवाह के दिन सातों काण्ड पूर्ण हो गये।

तुलसीदास पर भारत सरकार द्वारा जारी डाक टिकट

इसके बाद भगवान की आज्ञा से तुलसीदास जी काशी चले आये। वहाँ उन्होंने भगवान विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णा को श्रीरामचरितमानस सुनाया। रात को पुस्तक विश्वनाथ-मन्दिर में रख दी गयी। प्रातरूकाल जब मन्दिर के पट खोले गये तो पुस्तक पर लिखा हुआ पाया गया-सत्यं शिवं सुन्दरम् जिसके नीचे भगवान् शंकर की सही (पुष्टि) थी। उस समय वहाँ उपस्थित लोगों ने 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की आवाज भी कानों से सुनी।

इधर काशी के पण्डितों को जब यह बात पता चली तो उनके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वे दल बनाकर तुलसीदास जी की निन्दा और उस पुस्तक को नष्ट करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने पुस्तक चुराने के लिये दो चोर भी भेजे। चोरों ने जाकर देखा कि तुलसीदास जी की कुटी के आस-पास दो युवक धनुषबाण लिये पहरा दे रहे हैं। दोनों युवक बड़े ही सुन्दर क्रमशः 'श्याम और गौर वर्ण के थे। उनके दर्शन करते ही चोरों की बुद्धि शुद्ध हो गयी। उन्होंने उसी समय से चोरी करना छोड़ दिया और भगवान के भजन में लग गये। तुलसीदास जी ने अपने लिये भगवान् को कष्ट हुआ जान कुटी का सारा समान लुटा दिया और पुस्तक अपने मित्र टोडरमल (अकबर के नौरत्नों में एक) के यहाँ रखवा दी। इसके बाद उन्होंने अपनी विलक्षण स्मरण शक्ति से एक-दूसरी प्रति लिखी। उसी

के आधार पर दूसरी प्रतिलिपियाँ तैयार की गयीं और पुस्तक का प्रचार दिनों-दिन बढ़ने लगा।

इधर काशी के पण्डितों ने और कोई उपाय न देख श्री मधुसूदन सरस्वती नाम के महापण्डित को उस पुस्तक को देखकर अपनी सम्मति देने की प्रार्थना की। मधुसूदन सरस्वती जी ने उसे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और उस पर अपनी ओर से यह टिप्पणी लिख दी-

आनन्दकानने ह्यास्मिंजंगमस्तुलसीतरुः।
कवितामंजरी भाति रामभ्रमरभूषिता।

इसका हिन्दी में अर्थ इस प्रकार है-'काशी के आनन्द-वन में तुलसीदास साक्षात् चलता-फिरता तुलसी का पौधा है। उसकी काव्य-मंजरी बड़ी ही मनोहर है, जिस पर श्रीराम रूपी भँवरा सदा मँडराता रहता है।'

पण्डितों को उनकी इस टिप्पणी पर भी संतोष नहीं हुआ। तब पुस्तक की परीक्षा का एक अन्य उपाय सोचा गया। काशी के विश्वनाथ-मन्दिर में भगवान विश्वनाथ के सामने सबसे ऊपर वेद, उनके नीचे शास्त्र, शास्त्रों के नीचे पुराण और सबके नीचे रामचरितमानस् रख दिया गया। प्रातःकाल जब मन्दिर खोला गया तो लोगों ने देखा कि श्रीरामचरितमानस् वेदों के ऊपर रखा हुआ है। अब तो सभी पण्डित बड़े लज्जित हुए। उन्होंने तुलसीदास जी से क्षमा माँगी और भक्ति-भाव से उनका चरणोदक लिया।

मृत्यु

तुलसीदास जी जब काशी के विख्यात् घाट असीघाट पर रहने लगे तो एक रात कलियुग मूर्त रूप धारण कर उनके पास आया और उन्हें पीड़ा पहुँचाने लगा। तुलसीदास जी ने उसी समय हनुमान जी का ध्यान किया। हनुमान जी ने साक्षात् प्रकट होकर उन्हें प्रार्थना के पद रचने को कहा, इसके पश्चात् उन्होंने अपनी अन्तिम कृति विनय-पत्रिका लिखी और उसे भगवान के चरणों में समर्पित कर दिया। श्रीराम जी ने उस पर स्वयं अपने हस्ताक्षर कर दिये और तुलसीदास जी को निर्भय कर दिया।

संवत् 1680 में श्रावण कृष्ण तृतीया शनिवार को तुलसीदास जी ने 'राम-राम' कहते हुए अपना शरीर परित्याग किया।

तुलसी-स्तवन

तुलसीदास जी की हस्तलिपि अत्यधिक सुन्दर थी लगता है जैसे उस युग में उन्होंने कैलोग्राफी की कला आती थी। उनके जन्म-स्थान राजापुर के एक मन्दिर में श्रीरामचरितमानस् के अयोध्याकाण्ड की एक प्रति सुरक्षित रखी हुई है। उसी प्रति के साथ रखे हुए एक कवि मदनलाल वर्मा 'क्रान्त' की हस्तलिपि में तुलसी के व्यक्तित्त्व व कृतित्त्व को रेखांकित करते हुए निम्नलिखित दो छन्द भी उल्लेखनीय हैं जिन्हें हिन्दी अकादमी दिल्ली की पत्रिका इन्द्रप्रस्थ भारती ने सर्वप्रथम प्रकाशित किया था। इनमें पहला छन्द सिंहावलोकन है जिसकी विशेषता यह है कि प्रत्येक चरण जिस शब्द से समाप्त होता है उससे आगे का उसी से प्रारम्भ होता है। प्रथम व अन्तिम शब्द भी एक ही रहता है। काव्यशास्त्र में इसे अद्‌भुत छन्द कहा गया है। यही छन्द एक अन्य पत्रिका साहित्य परिक्रमा के तुलसी जयन्ती विशेषांक में भी प्रकाशित हुए थे वहीं से उद्धृत किये गये हैं

तुलसी ने मानस लिखा था जब जाति-पाँति-सम्प्रदाय-ताप से धरम-धरा झुलसी।

झुलसी धरा के तृण-संकुल पे मानस की पावसी-फुहार से हरीतिमा-सी हुलसी।

हुलसी हिये में हरि-नाम की कथा अनन्त सन्त के समागम से फूली-फली कुल-सी।

कुल-सी लसी जो प्रीति राम के चरित्र में तो राम-रस जग को चखाय गये तुलसी।

आत्मा थी राम की पिता में सो प्रताप-पुन्ज आप रूप गर्भ में समाय गये तुलसी।

जन्मते ही राम-नाम मुख से उचारि निज नाम रामबोला रखवाय गये तुलसी।

रत्नावली-सी अर्द्धांगिनी सों सीख पाय राम सों प्रगाढ प्रीति पाय गये तुलसी।

मानस में राम के चरित्र की कथा सुनाय राम-रस जग को चखाय गये तुलसी।

तुलसीदास की रचनाएँ

अपने 126 वर्ष के दीर्घ जीवन-काल में तुलसीदास ने कालक्रमानुसार निम्नलिखित कालजयी ग्रन्थों की रचनाएँ कीं -

रामललानहछू, वैराग्यसंदीपनी, रामाज्ञाप्रश्न, जानकी-मंगल, रामचरितमानस्, सतसई, पार्वती-मंगल, गीतावली, विनय-पत्रिका, कृष्ण-गीतावली, बरवै रामायण, दोहावली और कवितावली।

इनमें से रामचरितमानस्, विनय-पत्रिका, कवितावली, गीतावली जैसी कृतियों के विषय में किसी कवि की यह आर्षवाणी सटीक प्रतीत होती है - पश्य देवस्य काव्यं, न मृणोति न जीर्यति। अर्थात् देवपुरुषों का काव्य देखिये जो न मरता न पुराना होता है।

लगभग चार सौ वर्ष पूर्व तुलसीदास जी ने अपनी कृतियों की रचना की थी। आधुनिक प्रकाशन-सुविधाओं से रहित उस काल में भी तुलसीदास का काव्य जन-जन तक पहुँच चुका था। यह उनके कवि रूप में लोकप्रिय होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। मानस जैसे वृहद् ग्रन्थ को कण्ठस्थ करके सामान्य पढ़े-लिखे लोग भी अपनी शुचिता एवं ज्ञान के लिए प्रसिद्ध होने लगे थे।

रामचरितमानस् तुलसीदास जी का सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। उन्होंने अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है, इसलिए प्रामाणिक रचनाओं के सम्बन्ध में अन्तःसाक्ष्य का अभाव दिखायी देता है। नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ इस प्रकार हैं।

रामचरितमानस
रामललानहछू
वैराग्य-संदीपनी
बरवै रामायण
पार्वती-मंगल
जानकी-मंगल
रामाज्ञाप्रश्न
दोहावली
कवितावली
गीतावली
श्रीकृष्ण-गीतावली
विनय-पत्रिका
सतसई
छंदावली रामायण
कुंडलिया रामायण

राम शलाका
संकट मोचन
करखा रामायण
रोला रामायण
झूलना
छप्पय रामायण
कवित्त रामायण
कलिधर्माधर्म निरूपण
हनुमान चालीसा

कुछ ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण

रामललानहछू

यह संस्कार गीत है। इस गीत में कतिपय उल्लेख राम-विवाह की कथा से भिन्न हैं।

गोद लिहैं कौशल्या बैठि रामहिं वर हो।
सोभित दूलह राम सीस, पर आंचर हो।।

वैराग्य संदीपनी

वैराग्य संदीपनी को माता-प्रसाद गुप्त ने अप्रामाणिक माना है, पर आचार्य चंद्रवली पांडे इसे प्रामाणिक और तुलसी की आरंभिक रचना मानते हैं। कुछ और प्राचीन प्रतियों के उपलब्ध होने से ठोस प्रमाण मिल सकते हैं। संत महिमा वर्णन का पहला सोरठा पेश है -

को बरनै मुख एक, तुलसी महिमा संत।
जिन्हके विमल विवेक, सेष महेस न कहि सकत।।

बरवै रामायण

विद्वानों ने इसे तुलसी की रचना घोषित किया है। शैली की दृष्टि से यह तुलसीदास की प्रामाणिक रचना है। इसकी खंडित प्रति ही ग्रंथावली में संपादित है।

पार्वती-मंगल

यह तुलसी की प्रामाणिक रचना प्रतीत होती है। इसकी काव्यात्मक प्रौढ़ता तुलसी सिद्धांत के अनुकूल है। कविता सरल, सुबोध रोचक और सरस है। 'जगत मातु पितु संभु भवानी' की शृंगारिक चेष्टाओं का तनिक भी पुट नहीं है। लोक रीति इतनी यथास्थिति से चित्रित हुई है कि यह संस्कृत के शिव काव्य से कम प्रभावित है और तुलसी की मति की भक्त्यात्मक भूमिका पर विरचित कथा काव्य है। व्यवहारों की सुष्ठुता, प्रेम की अनन्यता और वैवाहिक कार्यक्रम की सरसता को बड़ी सावधानी से कवि ने अंकित किया है। तुलसीदास अपनी इस रचना से अत्यन्त संतुष्ट थे, इसीलिए इस अनासक्त भक्त ने केवल एक बार अपनी मति की सराहना की है –

प्रेम पाट पटडोरि गौरि-हर-गुन मनि।
मंगल हार रचेउ कवि मति मृगलोचनि।।

जानकी-मंगल

विद्वानों ने इसे तुलसीदास की प्रामाणिक रचनाओं में स्थान दिया है। पर इसमें भी क्षेपक है।

पंथ मिले भृगुनाथ हाथ फरसा लिए।
डाँटहि आँखि देखाइ कोप दारुन किए।।
राम कीन्ह परितोष रोस रिस परिहरि।
चले सौंपि सारंग सुफल लोचन करि।।
रघुबर भुजबल देख उछाह बरातिन्ह।
मुदित राउ लखि सन्मुख विधि सब भाँतिन्ह।।

तुलसी के मानस के पूर्व वाल्मीकी, रामायण की कथा ही लोक प्रचलित थी। काशी के पंडितों से मानस को लेकर तुलसीदास का मतभेद और मानस की प्रति पर विश्वनाथ का हस्ताक्षर संबंधी जनश्रुति प्रसिद्ध है।

रामाज्ञा प्रश्न

यह ज्योतिष शास्त्रीय पद्धति का ग्रंथ है। दोहों, सप्तकों और सर्गों में विभक्त यह ग्रंथ रामकथा के विविध मंगल एवं अमंगलमय प्रसंगों की मिश्रित रचना है। काव्य की दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्त्व नगण्य है। सभी इसे तुलसीकृत

मानते हैं। इसमें कथा-शृंखला का अभाव है और वाल्मीकी, रामायण के प्रसंगों का अनुवाद अनेक दोहों में है।

दोहावली

दोहावली में अधिकांश दोहे मानस के हैं। कवि ने चातक के ब्याज से दोहों की एक लंबी शृंखला लिखकर भक्ति और प्रेम की व्याख्या की है। दोहावली दोहा संकलन है। मानस के भी कुछ कथा निरपेक्ष दोहों को इसमें स्थान है। संभव है कुछ दोहे इसमें भी प्रक्षिप्त हों, पर रचना की अप्रामाणिकता असंदिग्ध है।

कवितावली

कवितावली तुलसीदास की रचना है, पर सभा संस्करण अथवा अन्य संस्करणों में प्रकाशित यह रचना पूरी नहीं प्रतीत होती है। कवितावली एक प्रबंध रचना है। कथानक में अप्रासंगिकता एवं शिथिलता तुलसी की कला का कलंक कहा जायेगा।

गीतावली

गीतावली में गीतों का आधार विविध कांड का रामचरित् ही रहा है। यह ग्रंथ रामचरितमानस् की तरह व्यापक जनसम्पर्क में कम गया प्रतीत होता है। इसलिए इन गीतों में परिवर्तन-परिवर्धन दृष्टिगत नहीं होता है। गीतावली में गीतों के कथा - संदर्भ तुलसी की मति के अनुरूप हैं। इस दृष्टि से गीतावली का एक गीत लिया जा सकता है -

कैकेयी जौ लौं जियत रही।
तौ लौं बात मातु सों मुह भरि भरत न भूलि कही।।
मानी राम अधिक जननी ते जननिहु गँसन गही।
सीय लखन रिपुदवन राम-रुख लखि सबकी निबही।।
लोक-बेद-मरजाद दोष गुन गति चित चखन चही।
तुलसी भरत समुझि सुनि राखी राम सनेह सही।।

इसमें भरत और राम के शील का उत्कर्ष तुलसीदास ने व्यक्त किया है। गीतावली के उत्तरकांड में मानस की कथा से अधिक विस्तार है। इसमें सीता का वाल्मीकि आश्रम में भेजा जाना वर्णित है। इस परित्याग का औचित्य निर्देश इन पंक्तियों में मिलता है -

भोग पुनि पितु-आयु को, सोउ किए बनै बनाउ।
परिहरे बिनु जानकी नहीं और अनघ उपाउ॥
पालिबे असिधार-ब्रत प्रिय प्रेम-पाल सुभाउ।
होइ हित केहि भांति, नित सुविचारु नहिं चित चाउ॥

श्रीकृष्ण गीतावली

श्रीकृष्ण गीतावली भी गोस्वामी जी की रचना है। श्रीकृष्ण-कथा के कतिपय प्रकरण गीतों के विषय हैं।

हनुमानबाहुक

यह गोस्वामी जी की हनुमत-भक्ति संबंधी रचना है। पर यह एक स्वतंत्र रचना है। इसके सभी अंश प्रामाणिक प्रतीत होते हैं।

तुलसीदास को राम प्यारे थे, राम की कथा प्यारी थी, राम का रूप प्यारा था और राम का स्वरूप प्यारा था। उनकी बुद्धि, राग, कल्पना और भावुकता पर राम की मर्यादा और लीला का आधिपत्य था। उनकी आंखों में राम की छवि बसती थी। सब कुछ राम की पावन लीला में व्यक्त हुआ है, जो रामकाव्य की परम्परा की उच्चतम उपलब्धि है। निर्दिष्ट ग्रंथों में इसका एक रस प्रतिबिंब है।

चैतन्य महाप्रभु

चैतन्य महाप्रभु (18 फरवरी, 1486-1534) वैष्णव धर्म के भक्ति योग के परम प्रचारक एवं भक्तिकाल के प्रमुख कवियों में से एक हैं। इन्होंने वैष्णवों के गौड़ीय संप्रदाय की आधारशिला रखी, भजन गायकी की एक नयी शैली को जन्म दिया तथा राजनैतिक अस्थिरता के दिनों में हिंदू-मुस्लिम एकता की सद्भावना को बल दिया, जात-पांत, ऊंच-नीच की भावना को दूर करने की शिक्षा दी तथा विलुप्त वृंदावन को फिर से बसाया और अपने जीवन का अंतिम भाग वहीं व्यतीत किया। उनके द्वारा प्रारंभ किए गए महामंत्र नाम संकीर्तन का अत्यंत व्यापक व सकारात्मक प्रभाव आज पश्चिमी जगत तक में है। यह भी कहा जाता है, कि यदि गौरांग ना होते तो वृंदावन आज तक एक मिथक ही होता। वैष्णव लोग तो इन्हें श्रीकृष्ण का राधा रानी के संयोग का अवतार मानते हैं। गौरांग के ऊपर बहुत से ग्रंथ लिखे गए हैं, जिनमें से प्रमुख है श्री कृष्णदास कविराज

गोस्वामी विरचित चैतन्य चरितामृत। इसके अलावा श्री वृंदावन दास ठाकुर रचित चैतन्य भागवत तथा लोचनदास ठाकुर का चैतन्य मंगल भी हैं।

जन्म तथा प्रारंभिक जीवन

चैतन्य चरितामृत के अनुसार चैतन्य महाप्रभु का जन्म सन् 1486 की फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा को पश्चिम बंगाल के नवद्वीप (नादिया) नामक गांव में हुआ, जिसे अब मायापुर कहा जाता है। इनका जन्म संध्याकाल में सिंह लग्न में चंद्र ग्रहण के समय हुआ था। उस समय बहुत से लोग शुद्धि की कामना से हरिनाम जपते हुए गंगा स्नान को जा रहे थे। तब विद्वान ब्राह्मणों ने उनकी जन्मकुण्डली के ग्रहों और उस समय उपस्थित शगुन का फलादेश करते हुए यह भविष्यवाणी की, कि यह बालक जीवन पर्यन्त हरिनाम का प्रचार करेगा। यद्यपि बाल्यावस्था में इनका नाम विश्वंभर था, परंतु सभी इन्हें निमाई कहकर पुकारते थे, क्योंकि कहते हैं, कि ये नीम के पेड़ के नीचे मिले थे। गौरवर्ण का होने के कारण लोग इन्हें गौरांग, गौर हरि, गौर सुंदर आदि भी कहते थे।

इनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र व मां का नाम शचि देवी था। निमाई बचपन से ही विलक्षण प्रतिभा संपन्न थे। साथ ही, अत्यंत सरल, सुंदर व भावुक भी थे। इनके द्वारा की गई लीलाओं को देखकर हर कोई हतप्रभ हो जाता था। बहुत कम आयु में ही निमाई न्याय व व्याकरण में पारंगत हो गए थे। इन्होंने कुछ समय तक नादिया में स्कूल स्थापित करके अध्यापन कार्य भी किया। निमाई बाल्यावस्था से ही भगवद्चिंतन में लीन रहकर राम व कृष्ण का स्तुति गान करने लगे थे। 15-16 वर्ष की अवस्था में इनका विवाह लक्ष्मीप्रिया के साथ हुआ। सन 1505 में सर्प दंश से पत्नी की मृत्यु हो गई। वंश चलाने की विवशता के कारण इनका दूसरा विवाह नवद्वीप के राजपंडित सनातन की पुत्री विष्णुप्रिया के साथ हुआ। जब ये किशोरावस्था में थे, तभी इनके पिता का निधन हो गया।

धार्मिक दीक्षा

सन् 1509 में जब ये अपने पिता का श्राद्ध करने गया गए, तब वहां इनकी भेंट ईश्वरपुरी नामक संत से हुई। उन्होंने निमाई से कृष्ण-कृष्ण रटने को कहा। तभी से इनका सारा जीवन बदल गया और ये हर समय भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति में लीन रहने लगे। भगवान श्रीकृष्ण के प्रति इनकी अनन्य निष्ठा व विश्वास के कारण इनके असंख्य अनुयायी हो गए। सर्वप्रथम नित्यानंद प्रभु व

अद्वैताचार्य महाराज इनके शिष्य बने। इन दोनों ने निमाई के भक्ति आंदोलन को तीव्र गति प्रदान की। इन्होंने अपने इन दोनों शिष्यों के सहयोग से ढोलक, मृदंग, झाँझ, मंजीरे आदि वाद्य यंत्र बजाकर व उच्च स्वर में नाच-गाकर हरि नाम संकीर्तन करना प्रारंभ किया।

हरे-कृष्ण, हरे-कृष्ण, कृष्ण-कृष्ण, हरे-हरे। हरे-राम, हरे-राम, राम-राम, हरे-हरे।

गौरांग की मायापुर में एक मंदिर में स्थित प्रतिमा

यह अठारह शब्दीय (32 अक्षरीय) कीर्तन महामंत्र निमाई की ही देन है। इसे तारक ब्रह्म महामंत्र कहा गया, व कलियुग में जीवात्माओं के उद्धार हेतु प्रचारित किया गया था। जब ये कीर्तन करते थे, तो लगता था मानो ईश्वर का आह्वान कर रहे हैं। सन् 1510 में संत प्रवर श्री पाद केशव भारती से संन्यास की दीक्षा लेने के बाद निमाई का नाम कृष्ण चैतन्य देव हो गया। मात्र 24 वर्ष की आयु में ही इन्होंने गृहस्थ आश्रम का त्याग कर संन्यास ग्रहण किया। बाद में ये चैतन्य महाप्रभु के नाम से प्रख्यात हुए। संन्यास लेने के बाद जब गौरांग पहली बार जगन्नाथ मंदिर पहुंचे, तब भगवान की मूर्ति देखकर ये इतने भाव-विभोर हो गए, कि उन्मत्त होकर नृत्य करने लगे, व मूर्छित हो गए। संयोग से तब वहां उपस्थित प्रकाण्ड पण्डित सार्वभौम भट्टाचार्य महाप्रभु की प्रेम-भक्ति से प्रभावित होकर उन्हें अपने घर ले गए। घर पर शास्त्र-चर्चा आरंभ हुई, जिसमें सार्वभौम अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करने लगे, तब श्रीगौरांग ने भक्ति का महत्त्व ज्ञान से कहीं ऊपर सिद्ध किया व उन्हें अपने षड्भुज रूप का दर्शन कराया। सार्वभौम तभी से गौरांग महाप्रभु के शिष्य हो गए और वह अन्त समय तक उनके साथ रहे। पंडित सार्वभौम भट्टाचार्य ने गौरांक की शत-श्लोकी स्तुति रची जिसे आज चैतन्य शतक नाम से जाना जाता है। उड़ीसा के सूर्यवंशी सम्राट, गजपति महाराज प्रताप रुद्रदेव ने इन्हें श्रीकृष्ण का अवतार माना और इनका अनन्य भक्त बन गया।

चैतन्य महाप्रभु संन्यास लेने के बाद नीलांचल चले गए। इसके बाद दक्षिण भारत के श्रीरंग क्षेत्र व सेतु बंध आदि स्थानों पर भी रहे। इन्होंने देश के कोने-कोने में जाकर हरिनाम की महत्ता का प्रचार किया। सन् 1515 में विजयादशमी के दिन वृंदावन के लिए प्रस्थान किया। ये वन के रास्ते ही वृंदावन को चले। कहते हैं, कि इनके हरिनाम उच्चारण से उन्मत्त हो कर जंगल के

जानवर भी इनके साथ नाचने लगते थे। बड़े-बड़े जंगली जानवर जैसे शेर, बाघ और हाथी आदि भी इनके आगे नतमस्तक हो प्रेमभाव से नृत्य करते चलते थे। कार्तिक पूर्णिमा को ये वृंदावन पहुंचे। वृंदावन में आज भी कार्तिक पूर्णिमा के दिन गौरांग का आगमनोत्सव मनाया जाता है। यहां इन्होंने इमली तला और अक्रूर घाट पर निवास किया। वृंदावन में रहकर इन्होंने प्राचीन श्रीधाम वृंदावन की महत्ता प्रतिपादित कर लोगों की सुप्त भक्ति भावना को जागृत किया। यहां से फिर ये प्रयाग चले गए। इन्होंने काशी, हरिद्वार, शृंगार (कर्नाटक), कामकोटि पीठ (तमिलनाडु), द्वारिका, मथुरा आदि स्थानों पर रहकर भगवद्नाम संकीर्तन का प्रचार-प्रसार किया। चैतन्य महाप्रभु ने अपने जीवन के अंतिम वर्ष जगन्नाथ पुरी में रहकर बिताएं। यहीं पर सन् 1533 में 47 वर्ष की अल्पायु में रथयात्रा के दिन उन्होंने श्रीकृष्ण के परम धाम को प्रस्थान किया।

चैतन्य महाप्रभु ने लोगों की असीम लोकप्रियता और स्नेह प्राप्त किया। कहते हैं कि उनकी अद्भुत भगवद्भक्ति देखकर जगन्नाथ पुरी के राजा तक उनके श्रीचरणों में नत हो जाते थे। बंगाल के एक शासक के मंत्री रूपगोस्वामी तो मंत्री पद त्यागकर चैतन्य महाप्रभु के शरणागत हो गए थे। उन्होंने कुष्ठ रोगियों व दलितों आदि को अपने गले लगाकर उनकी अनन्य सेवा की। वे सदैव हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश देते रहे। साथ ही, उन्होंने लोगों को पारस्परिक सद्भावना जागृत करने की प्रेरणा दी। वस्तुतः उन्होंने जातिगत भेदभाव से ऊपर उठकर समाज को मानवता के सूत्र में पिरोया और भक्ति का अमृत पिलाया। वे गौड़ीय संप्रदाय के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। उनके द्वारा कई ग्रंथ भी रचे गए। किंतु आज एक शिक्षाष्टक के सिवाय अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उन्होंने संस्कृत भाषा में भी तमाम रचनाएं कीं। उनका मार्ग प्रेम व भक्ति का था। वे नारद जी की भक्ति से अत्यंत प्रभावित थे, क्योंकि नारद जी सदैव 'नारायण-नारायण जपते रहते थे।

उन्होंने विश्व मानव को एक सूत्र में पिरोते हुए यह समझाया कि ईश्वर एक है। उन्होंने लोगों को यह मुक्ति सूत्र भी दिया-

कृष्ण केशव, कृष्ण केशव, कृष्ण केशव, पाहियाम। राम राघव, राम राघव, राम राघव, रक्षयाम।।

षड्गोस्वामी

हिंदू धर्म में नाम-जप को ही वैष्णव धर्म माना गया है और भगवान श्रीकृष्ण को प्रधानता दी गई है। चैतन्य ने इन्हीं की उपासना की और नवद्वीप

से अपने छः प्रमुख अनुयायियों को वृंदावन भेजकर वहां सप्त देवालयों की आधारशिला रखवाई। गौरांग ने जिस गौड़ीय संप्रदाय की स्थापना की थी। उसमें षड्गोस्वामियों की अत्यंत अहम भूमिका रही। इन सभी ने भक्ति आंदोलन को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान किया। साथ ही वृंदावन के सप्त देवालयों के माध्यम से विश्व में आध्यात्मिक चेतना का प्रसार किया। रसिक कवि कुल चक्र चूड़ामणि श्री जीव गोस्वामी महराज षड्गोस्वामी गणों में अन्यतम थे। उन्होंने परमार्थिक निःस्वार्थ प्रवृत्ति से युक्त होकर सेवा व जन कल्याण के जो अनेकानेक कार्य किए वह स्तुत्य हैं। चैतन्य महाप्रभु के सिद्धान्त अनुसार हरि-नाम में रुचि, जीव मात्र पर दया एवं वैष्णवों की सेवा करना उनके स्वभाव में था। वह मात्र 20 वर्ष की आयु में ही सब कुछ त्याग कर वृंदावन में अखण्ड वास करने आ गए थे। ये षड्गोस्वामी थे।

श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी, बहुत कम आयु में ही गौरांग की कृपा से यहां आ गए थे। दक्षिण भारत का भ्रमण करते हुए गौरांग चार माह इनके घर पर ठहरे थे। बाद में इन्होंने गौरांग के नाम संकीर्तन में प्रवेश किया।

श्री रघुनाथ भट्ट गोस्वामी, सदा हरे कृष्ण का अन्वरत जाप करते रहते थे और श्रीमद् भागवत का पाठ नियम से करते थे। राधा कुण्ड के तट पर निवास करते हुए, प्रतिदिन भागवत का मीठा पाठ स्थानीय लोगों को सुनाते थे और इतने भाव-विभोर हो जाते थे, कि उनके प्रेमाश्रुओं से भागवत के पन्ने भी भीग जाते थे।

श्री रूप गोस्वामी (1493-1564), का जन्म 1493 ई. (तदनुसार 1415 शक.सं.) को हुआ था। इन्होंने 22 वर्ष की आयु में गृहस्थाश्रम त्याग कर दिया था। बाद के 51 वर्ष ये ब्रज में ही रहे।

श्री सनातन गोस्वामी (1488-1558), चैतन्य महाप्रभु के प्रमुख शिष्य थे। उन्होंने गौड़ीय वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय की अनेकों ग्रन्थों की रचना की। अपने भाई रूप गोस्वामी सहित वृन्दावन के छः प्रभावशाली गोस्वामियों में वे सबसे ज्येष्ठ थे।

श्री जीव गोस्वामी(1533-1540), का जन्म श्री वल्लभ अनुपम के यहां 1533 ई0(तद.1455 शक. भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को हुआ था। श्री जीव के चेहरे पर सुवर्ण आभा थी, इनकी आंखें कमल के समान थीं, व इनके अंग-प्रत्यंग से चमक निकलती थी। श्री रूप गोस्वामी ने इन्हें श्रीमद्भागवत का पाठ कराया। और अन्ततः ये वृंदावन पहुंचे। वहां इन्होंने एक मंदिर भी बनवाया।

श्री रघुनाथ दास गोस्वामी, ने युवा आयु में ही गृहस्थी का त्याग किया और गौरांग के साथ हो लिए थे। ये चैतन्य के सचिव स्वरूप दामोदर के निजी सहायक रहे। उनके संग ही इन्होंने गौरांग के पृथ्वी पर अंतिम दिनों में दर्शन भी किये।

इन्होंने वृंदावन में सात वैष्णव मंदिरों की स्थापना की। वे इस प्रकार हैं––गोविंद देव मंदिर, गोपीनाथ मंदिर, मदन मोहन मंदिर, राधा रमण मंदिर, राधा दामोदर मंदिर, राधा 'यामसुंदर मंदिर और गोकुलानंद मंदिर, इन्हें सप्तदेवालय कहा जाता है।

अध्यात्म

लोग चैतन्य को भगवान श्रीकृष्ण का अवतार मानते हैं। इसके कुछ सन्दर्भ प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में भी मिलते हैं। श्री गौरांग अवतार की श्रेष्ठता के प्रतिपादक अनेक ग्रन्थ हैं। इनमें श्री चैतन्य चरितामृत, श्री चैतन्य भागवत, श्री चैतन्य मंगल, अमिय निमाइ चरित और चैतन्य शतक, आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गौरांग की स्तुति में अनेक महाकाव्य भी लिखे गए हैं।

इनका लिखा कोई ग्रन्थ या पाठ नहीं उपलब्ध है। मात्र आठ श्लोक ही उपलब्ध हैं। इसे शिक्षाष्टक कहते हैं। किंतु गौरांग के विचारों को श्रीकृष्णदास ने 'चैतन्य-चरितामृत में संकलित किया है। बाद में भी समय समय पर रूप जीव और सनातन गोस्वामियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में चैतन्य-चरित-प्रकाश किया है। इनके विचारों का सार यह है कि:-

श्रीकृष्ण ही एकमात्र देव हैं। वे मूर्तिमान सौन्दर्य हैं, प्रेमपरक है। उनकी तीन शक्तियाँ- परम ब्रह्म शक्ति, माया शक्ति और विलास शक्ति हैं। विलास शक्तियाँ दो प्रकार की हैं- एक है प्राभव विलास-जिसके माध्यम से श्रीकृष्ण एक से अनेक होकर गोपियों से क्रीड़ा करते हैं। दूसरी है वैभव-विलास- जिसके द्वारा श्रीकृष्ण चतुवर्यूह का रूप धारण करते हैं। चैतन्य मत के व्यूह-सिद्धान्त का आधार प्रेम और लीला है। गोलोक में श्रीकृष्ण की लीला शाश्वत है। प्रेम उनकी मूल शक्ति है और वही आनन्द का कारण है। यही प्रेम भक्त के चित्त में स्थित होकर महाभाव बन जाता है। यह महाभाव ही राधा है। राधा ही कृष्ण के सर्वोच्च प्रेम का आलम्बन हैं। वही उनके प्रेम की आदर्श प्रतिमा है। गोपी-कृष्ण-लीला प्रेम का प्रतिफल है।

शंकरदेव

जीवनचरित

श्रीमंत शंकरदेव का जन्म असम के नौगाँव जिले की बरदौवा के समीप अलिपुखुरी में हुआ। इनकी जन्मतिथि अब भी विवादास्पद है, यद्यपि प्राय: यह 1371 शक मानी जाती है। जन्म के कुछ दिन पश्चात् इनकी माता सत्यसंध्या का निधन हो गया। 21 वर्ष की उम्र में सूर्यवती के साथ इनका विवाह हुआ। मनु कन्या के जन्म के पश्चात् सूर्यवती परलोकगामिनी हुई।

शंकरदेव ने 32 वर्ष की उम्र में विरक्त होकर प्रथम तीर्थयात्रा आरंभ की और उत्तर भारत के समस्त तीर्थों का दर्शन किया। रूप और सनातन गोस्वामी से भी शंकर का साक्षात्कार हुआ था। तीर्थयात्रा से लौटने के पश्चात् शंकरदेव ने 54 वर्ष की उम्र में कालिंदी से विवाह किया। तिरहुतिया ब्राह्मण जगदीश मिश्र ने बरदौवा जाकर शंकरदेव को भागवत सुनाई तथा यह ग्रंथ उन्हें भेंट किया। शंकरदेव ने जगदीश मिश्र के स्वागतार्थ 'महानाट' के अभिनय का आयोजन किया। इसके पूर्व 'चिह्लयात्रा' की प्रशंसा हो चुकी थी। शंकरदेव ने 1438 शक में भुइयाँ राज्य का त्याग कर अहोम राज्य में प्रवेश किया। कर्मकांडी विप्रों ने शंकरदेव के भक्ति प्रचार का घोर विरोध किया। दिहिगिया राजा से ब्राह्मणों ने प्रार्थना की कि शंकर वेद विरुद्ध मत का प्रचार कर रहा है। कतिपय प्रश्नोत्तर के पश्चात् राजा ने इन्हें निर्दोष घोषित किया। हाथीधरा कांड के पश्चात् शंकरदेव ने अहोम राज्य को भी छोड़ दिया। पाटवाउसी में 18 वर्ष निवास करके इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की। 67 वर्ष की अवस्था में इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की। 97 वर्ष की अवस्था में इन्होंने दूसरी बार तीर्थयात्रा आरंभ की। उन्होंने कबीर के मठ का दर्शन किया तथा अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। इस यात्रा के पश्चात् वे बरपेटा वापस चले आए। कोच राजा नरनारायण ने शंकरदेव को आमंत्रित किया। कूचबिहार में 1490 शक में वे वैकुंठगामी हुए।

शंकरदेव के वैष्णव संप्रदाय का मत एक शरण है। इस धर्म में मूर्ति पूजा की प्रधानता नहीं है। धार्मिक उत्सवों के समय केवल एक पवित्र ग्रंथ चौकी पर रख दिया जाता है, इसे ही नैवेद्य तथा भक्ति निवेदित की जाती है। इस संप्रदाय में दीक्षा की व्यवस्था नहीं है।

रचनाएँ

काव्य

हरिश्चन्द्र उपाख्यान
अजामिल उपाख्यान
रुक्मिणी हरण काव्य
बलिछलन
अमृत मन्थन
गंजेन्द्र उपाख्यान
कुरुक्षेत्र
गोपी-उद्धव संवाद
कृष्ण प्रयाण - पाण्डव निर्वारण
भक्तितत्त्व प्रकाशक ग्रन्थ
भक्ति प्रदीप
भक्ति रत्नाकर (संस्कृत में)
निमि-नवसिद्ध संवाद
अनादि पातन
अनुवाद मूलक ग्रन्थ
भागवत प्रथम, द्वितीय
दशम स्कन्धर आदिछोवा
द्बादश स्कन्ध
रामायणर उत्तरकाण्ड

नाटक

पत्नी प्रसाद
कालियदमन
केलिगोपाल
रुक्मिणी हरण
पारिजात हरण
राम विजय

गीत

बरगीतढतमझिबिपुलज्योति डट इन
भटिमा (देवभटिमा, नाटभटिमा, राजभटिमा)
टोटय
चपय
नाम-प्रसंग ग्रन्थ
कीर्तन
गुणमाला

मार्कण्डेयपुराण के आधार पर शंकरदेव ने 615 छंदों का हरिश्चंद्र उपाख्यान लिखा।

भक्तिप्रदीप में भक्तिपरक 308 छंद हैं। इसकी रचना का आधार गरुड़ पुराण है।

हरिवंश तथा भागवत पुराण की मिश्रित कथा के सहारे इन्होंने रुक्मिणी हरण काव्य की रचना की।

शंकरकृत कीर्तनघोषा में ब्रह्म पुराण, पद्म पुराण तथा भागवत पुराण के विविध प्रसंगों का वर्णन है।

वामन पुराण तथा भागवत के प्रसंगों द्वारा अनादिपतनं की रचना हुई।

अजामिलोपाख्यान 426 छंदों की रचना है।

अमृतमंथन तथा बलिछलन का निर्माण अष्टम स्कंध की दो कथाओं से हुआ है।

आदिदशम कवि की अत्यंत लोकप्रिय रचना है जिसें कृष्ण की बाललीला के विविध प्रसंग चित्रित हुए हैं।

कुरुक्षेत्र तथा निमिमनसिद्धसंवाद और गुणमाला उनकी अन्य रचनाएँ हैं।

उत्तरकाण्ड रामायण का छंदोबद्ध अनुवाद उन्होंने किया।

विप्रपत्नीप्रसाद, कालिदमनयात्रा, केलिगोपाल, रुक्मिणी हरण नाटक, पारिजात हरण, रामविजय आदि नाटकों का निर्माण शंकरदेव ने किया।

असमिया वैष्णवों के पवित्र ग्रंथ भक्ति रत्नाकर की रचना इन्होंने संस्कृत में की। इसमें संप्रदाय के धार्मिक सिद्धांतों का निरूपण हुआ है।

वल्लभाचार्य

श्रीवल्लभाचार्य जी (1479-1531) भक्तिकालीन सगुण धारा की कृष्णभक्ति शाखा के आधार स्तंभ एवं पुष्टिमार्ग के प्रणेता थे। उनका प्रादुर्भाव विक्रम संवत्

1535, वैशाख कृष्ण एकादशी को दक्षिण भारत के कांकरवाड ग्रामवासी तैलंग ब्राह्मण श्रीलक्ष्मणभट्ट जी की पत्नी इलम्मागारू के गर्भ से हुआ। यह स्थान वर्तमान छत्तीसगढ़ राज्य के रायपुर के निकट चम्पारण्य है। उन्हें वैश्वानरावतार (अग्नि का अवतार) कहा गया है। वे वेदशास्त्र में पारंगत थे।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्मान में भारत सरकार ने सन् 1977 में एक रुपये मूल्य का एक डाक टिकट जारी किया था।

दीक्षा

श्रीरूद्र संप्रदाय के श्रीविल्वमंगलाचार्य जी द्वारा इन्हें अष्टादशाक्षर गोपालमन्त्र की दीक्षा दी गई। त्रिदण्ड सन्यास की दीक्षा स्वामी नारायणेन्द्रतीर्थ से प्राप्त हुई। विवाह पंडित श्रीदेवभट्ट जी की कन्या- महालक्ष्मी से हुआ और यथासमय दो पुत्र हुए- श्री गोपीनाथ व श्रीविट्ठलनाथ। भगवत्प्रेरणावश वे व्रज में गोकुल पहुंचे और तदनन्तर व्रजक्षेत्र स्थित गोवर्धन पर्वत पर अपनी गद्दी स्थापित कर शिष्य पूरनमल खत्री के सहयोग से उन्होंने संवत् 1576 में श्रीनाथ जी के भव्य मंदिर का निर्माण कराया। वहां विशिष्ट सेवा-पद्धति के साथ लीला-गान के अंतर्गत श्रीराधाकृष्ण की मधुरातिमधुर लीलाओं से संबंधित रसमय पदों की स्वर-लहरी का अवगाहन कर भक्तजन निहाल हो जाते।

मत

श्रीवल्लभाचार्य जी के मतानुसार तीन स्वीकार्य तत्त्व हैं- ब्रह्म, जगत् और जीव। ब्रह्म के तीन स्वरूप वर्णित हैं- आधिदैविक, आध्यात्मिक एवं अंतर्यामी रूप। अनंत दिव्य गुणों से युक्त पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म स्वीकारते हुए उनके मधुर रूप एवं लीलाओं को ही जीव में आनंद के आविर्भाव का स्रोत माना गया है। जगत् ब्रह्म की लीला का विलास है। संपूर्ण सृष्टि लीला के निमित्त ब्रह्म की आत्म-कृति है।

सिद्धान्त

भगवान श्रीकृष्ण के अनुग्रह को पुष्टि कहा गया है। भगवान के इस विशेष अनुग्रह से उत्पन्न होने वाली भक्ति को 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है। जीवों के तीन प्रकार हैं- पुष्टि जीव जो भगवान के अनुग्रह पर निर्भर रहते हुए नित्यलीला में प्रवेश के अधिकारी बनते हैं, मर्यादा जीव जो वेदोक्त विधियों का अनुसरण

करते हुए भिन्न-भिन्न लोक प्राप्त करते हैं, और प्रवाह जीव जो जगत्-प्रपंच में ही निमग्न रहते हुए सांसारिक सुखों की प्राप्ति हेतु सतत् चेष्टारत रहते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण भक्तों के निमित्त व्यापी वैकुण्ठ में, जो विष्णु के वैकुण्ठ से ऊपर स्थित है, नित्य क्रीड़ाएं करते हैं। इसी व्यापी वैकुण्ठ का एक खण्ड है- गोलोक, जिसमें यमुना, वृन्दावन, निकुंज व गोपियां सभी नित्य विद्यमान हैं। भगवद्सेवा के माध्यम से वहां भगवान की नित्य लीला-सृष्टि में प्रवेश ही जीव की सर्वोत्तम गति है। प्रेमलक्षणा भक्ति उक्त मनोरथ की पूर्ति का मार्ग है, जिस ओर जीव की प्रवृत्ति मात्र भगवदानुग्रह द्वारा ही संभव है। श्री मन्महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के पुष्टिमार्ग अनुग्रह मार्ग, का यही आधारभूत सिद्धांत है। पुष्टि-भक्ति की तीन उत्तरोत्तर अवस्थाएं हैं-प्रेम, आसक्ति और व्यसन। मर्यादा-भक्ति में भगवद्प्राप्ति शमदमादि साधनों से होती है, किंतु पुष्टि-भक्ति में भक्त को किसी साधन की आवश्यकता न होकर मात्र भगवद्कृपा का आश्रय होता है। मर्यादा-भक्ति स्वीकार्य करते हुए भी पुष्टि-भक्ति ही श्रेष्ठ मानी गई है। यह भगवान में मन की निरंतर स्थिति है। पुष्टिभक्ति का लक्षण यह है कि भगवान के स्वरूप की प्राप्ति के अतिरिक्त भक्त अन्य किसी फल की आकांक्षा ही न रखे। पुष्टिमार्गीय जीव की सृष्टि भगवत्सेवार्थ ही है- भगवद्रूप सेवार्थ तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्। प्रेमपूर्वक भगवत्सेवाभक्ति का यथार्थ स्वरूप है-भक्तिश्च प्रेमपूर्विका सेवा। भागवतीय आधार (कृष्णस्तु भगवान स्वयं) पर भगवान कृष्ण ही सदा सर्वदासेव्य, स्मरणीय तथा कीर्तनीय हैं-

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः।
तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।

ब्रह्म के साथ जीव-जगत् का संबंध निरूपण करते हुए उनका मत था कि जीव ब्रह्म का सदंशसद् अंश, है, जगत् भी ब्रह्म का सदंश है। अंश एवं अंशी में भेद न होने के कारण जीव-जगत् और ब्रह्म में परस्पर अभेद है। अंतर मात्र इतना है कि जीव में ब्रह्म का आनंदांश आवृत्त रहता है, जबकि जड़ जगत में इसके आनन्दांश व चैतन्यांश दोनों ही आवृत्त रहते हैं।

श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद केवलाद्वैत के विपरीत श्रीवल्लभाचार्य के अद्वैतवाद में माया का संबंध अस्वीकार करते हुए ब्रह्म को कारण और जीव-जगत को उसके कार्य रूप में वर्णित कर तीनों शुद्ध तत्त्वों का ऐक्य प्रतिपादित किए जाने के कारण ही उक्त मत शुद्धाद्वैतवाद कहलाया (जिसके मूल प्रवर्तक आचार्य श्री विष्णुस्वामी जी हैं)।

प्रमुख ग्रन्थ

श्री वल्लभाचार्य ने अनेक भाष्यों, ग्रंथों, नामावलियों, एवं स्तोत्रों की रचना की है, जिनमें प्रमुख निम्नलिखित ये सोलह सम्मिलित हैं, जिन्हें 'षोड्श ग्रन्थ' के नाम से जाना जाता है –

1. यमुनाष्टक
2. बालबोध
3. सिद्धान्त मुक्तावली
4. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद
5. सिद्धान्तरहस्य
6. नवरत्न स्तोत्र
7. अन्त:करणप्रबोध
8. विवेकधैर्याश्रय
9. श्रीकृष्णाश्रय
10. चतु:श्लोकी
11. भक्तिवर्धिनी
12. जलभेद
13. पंचपद्यानि
14. संन्यासनिर्णय
15. निरोधलक्षण
16. सेवाफल

आपका शुद्धाद्वैत का प्रतिपादक प्रधान दार्शनिक ग्रन्थ है – अणुभाष्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य अथवा उत्तरमीमांसा,। इनके अतिरिक्त आप द्वारा प्रणीत कई अन्य ग्रन्थ, जैसे – 'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध', 'पुरुषोत्तम सहस्त्रनाम', 'पत्रवलम्बन', 'पंचश्लोकी', पूर्वमीमांसाभाष्य, भागवत के दशम स्कन्ध पर सुबोधिनी टीका आदि भी प्रसिद्ध हैं। 'मधुराष्टक' स्तोत्र में आपने भगवान श्रीकृष्ण के स्वरूप, गुण, चरित्र, लीला आदि के माधुर्य को अत्यंत मधुर शब्दों और भावों से निरूपित किया है।

षोड्श ग्रन्थों की टीकाएँ तथा हिंदी अनुवाद

महाप्रभु वल्लभाचार्य के षोड्श ग्रंथों पर श्री हरिराय जी, श्री कल्याण राय जी, श्री पुरुषोत्तम जी, श्रीरघुनाथ जी आदि अनेक विद्वानों द्वारा संस्कृत भाषा में टीकाएं उपलब्ध हैं। सर्वसाधारण के लिए भाषा की जटिलता के कारण ग्रंथों और

टीकाओं के मर्म को समझना कठिन रहा है, किन्तु श्री वल्लभाचार्य के ही एक विद्वान वंशज गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपाल जी ने प्रत्येक ग्रन्थ की समस्त टीकाओं को न केवल एक जगह संकलित किया है, बल्कि पुष्टिमार्ग के भक्तों तथा अनुयायियों के लाभ के लिए उनका हिंदी अनुवाद भी सुलभ कराया है। क्लिष्ट टीकाओं के हिंदी अनुवाद के साथ अधिक स्पष्टता के लिए उन्होंने प्रत्येक ग्रन्थ पर अपनी स्वयं की टीका भी की है। ये सभी टीकाएँ सोलह पुस्तकों के रूप में छपी हैं। निम्न तालिका में श्री वल्लभाचार्य के ग्रंथों की सग्रहीत टीकाओं के साथ ही श्री राजकुमार नृत्यगोपाल जी की टीका का उल्लेख है।

चतु:श्लोकी–मध्या टीका, 2002
भक्तिवर्धिनी – संयुक्ता टीका, 2002
सिद्धान्त–रहस्यम् – दिशा टीका, 2002
अन्त:करणप्रबोध: – अरुणा टीका, 2003
विवेकधैर्याश्रय: – आलोका टीका, 2003
कृष्णाश्रयस्तोत्रम् – संगिनी टीका, 2004
नवरत्नम् – गोपालकेतिनी टीका, 2005
निरोधलक्षणम् – मनोज्ञा टीका, 2007
सेवाफलम् – अनुस्यूता टीका, 2009
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: – मेखला टीका, 2010
श्री यमुनाष्टकम् – श्री टीका, 2011
जलभेद: तथा पंचपद्यानि – मनोज्ञा टीका, 2011
संन्यासनिर्णय: – ज्ञापिनी टीका, 2012
बालबोध: – बोधिका टीका, 2012
सिद्धान्तमुक्तावली – प्राची टीका, 2013

शिष्य परम्परा

श्री वल्लभाचार्यजी के चौरासी शिष्यों के अलावा अनगिनत भक्त, सेवक और अनुयायी थे। उनके पुत्र श्रीविट्ठलनाथ जी (गुसाईं जी) ने बाद में उनके चार प्रमुख शिष्यों – भक्त सूरदास, कृष्णदास, परमानन्द दास और कुम्भनदास, तथा अपने स्वयं के चार शिष्यों – नन्ददास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी तथा चतुर्भुजदास, जो सभी श्रेष्ठ कवि तथा कीर्तनकार भी थे, का एक समूह स्थापित

किया जो "अष्टछाप" कवि के नाम से प्रसिद्ध है। सूरदास जी की सच्ची भक्ति एवं पद-रचना की निपुणता देख अति विनयी सूरदास जी को भागवत् कथा श्रवण कराकर भगवल्लीलागान की ओर उन्मुख किया तथा उन्हें श्रीनाथ जी के मन्दिर की कीर्तन-सेवा सौंपी। उन्हें तत्त्व ज्ञान एवं लीला भेद भी बतलाया-श्रीवल्लभगुरु तत्त्व सुनायो लीला-भेद बतायो सूरसारावली,। सूर की गुरु के प्रति निष्ठा दृष्टव्य है- भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो। श्रीवल्लभ-नख-चंद्र-छटा बिनु सब जग मांझ अंधेरो, श्रीवल्लभ के प्रताप से प्रमत्त कुम्भनदास जी तो सम्राट अकबर तक का मान-मर्दन करने में नहीं झिझके- परमानन्ददास जी के भावपूर्ण पद का श्रवण कर महाप्रभु कई दिनों तक बेसुध पड़े रहे। मान्यता है कि उपास्य श्रीनाथ जी ने कलि-मल-ग्रसित जीवों का उद्धार हेतु श्रीवल्लभाचार्य जी को दुर्लभ आत्म-निवेदन-मन्त्र प्रदान किया और गोकुल के ठकुरानी घाट पर यमुना महारानी ने दर्शन देकर कृतार्थ किया।

आसुरव्यामोह लीला

विक्रम संवत् 1587, आषाढ़ शुक्ल तृतीया (सन् 1531) को उन्होंने अलौकिक रीति से इहलीला संवरण कर सदेह प्रयाण किया, जिसे 'आसुरव्यामोह लीला' कहा जाता है। वैष्णव समुदाय उनका चिरऋणी है।

सूरदास

सूरदास कवियों में सर्वोपरि है। हिन्दी साहित्य में भगवान श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक और ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि महात्मा सूरदास, हिंदी साहित्य, के सूर्य, माने जाते हैं। जीवन परिचय भक्तिकालीन महाकवि सूरदास का जन्म रुनकता नामक ग्राम में 1540 वी.सं में पंडित रामदास जी के घर हुआ। पंडित रामदास सारस्वत ब्राह्मण थे कुछ सीही नामक संस्था को सूरदास का जन्म स्थल मानते हैं। सूरदास जन्म से अंधे थे या नहीं इस संबंध में भी विद्वानों में मतभेद है उन्होंने हिंदी भाषा को ऊँचा रखने की कोशिश की। सूरदास बचपन से ही संगीत प्रेमी थे। 1567 स्वामी वल्लभाचार्य के शिष्य बने। चौरासी वैष्णव की वार्ता में सूरदास और अकबर की भेंट का उल्लेख है सूरदास और तुलसीदास की भेंट का उल्लेख भी अनेक ग्रंथों में आया है। अधिकांश विद्वानों द्वारा सूरदास का देहांत परसोली नामक गांव में संवत् 1640 में हुआ माना गया है।

जीवन परिचय

सूरदास का जन्म 1540(वि. स.) में रुनकता नामक गाँव में हुआ। यह गाँव मथुरा-आगरा मार्ग के किनारे स्थित है। कुछ विद्वानों का मत है कि सूर का जन्म सीही नामक ग्राम में एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वह बहुत विद्वान थे, उनकी लोग आज भी चर्चा करते हैं।--- मथुरा के बीच गऊघाट पर आकर रहने लगे थे। सूरदास के पिता, रामदास गायक थे। सूरदास के जन्मांध होने के विषय में मतभेद है। प्रारंभ में सूरदास आगरा के समीप गऊघाट पर रहते थे। वहीं उनकी भेंट श्री वल्लभाचार्य से हुई और वे उनके शिष्य बन गए। वल्लभाचार्य ने उनको पुष्टिमार्ग में दीक्षित कर के कृष्णलीला के पद गाने का आदेश दिया। सूरदास की मृत्यु गोवर्धन के निकट पारसौली ग्राम में 1580 ईस्वीं में हुई।

सूरदास बनना?

मदन मोहन एक बहुत ही सुन्दर और तेज बुद्धि के नवयुवक थे वह हर दिन नदी के किनारे जा कर बैठ जाता और गीत लिखता।। एक दिन एक ऐसा वाकया हुआ जिसने उसका मन को मोह लिया। हुआ ये की एक सुन्दर नवयुवती नदी किनारे कपड़े धो रही थी, मदन मोहन का ध्यान उसकी तरफ चला गया। उस युवती ने मदन मोहन को ऐसा आकर्षित किया की वह कविता लिखना भूल गए और पूरा ध्यान लगा कर उस युवती को देखने लगे। उनको ऐसा लगा मानो यमुना किनारे राधिका स्नान कर के बैठी हो। उस नवयुवती ने भी मदन मोहन की तरफ देखा और उनके पास आकर बोली आप मदन मोहन जी हो ना? तो वह बोले, हां मैं मदन मोहन हूँ। कवितायें लिखता हूँ तथा गाता हूँ आपको देखा तो रुक गया। नवयुवती ने पूछा क्यों ? तो वह बोले आप हो ही इतनी सुन्दर। यह सिलसिला कई दिनों तक चला। जब यह बात मदन मोहन के पिता को पता चली तो उनको बहुत क्रोध आया। फिर मदन मोहन ने उसका घर छोड़ दिया। पर उस सुन्दर युवती का चेहरा उनके सामने से नहीं जा रहा था एक दिन वह मंदिर में बैठे थे तभी वहाँ एक शादीशुदा बहुत ही सुन्दर स्त्री आई। मदन मोहन उनके पीछे-पीछे चल दिए। जब वह उसके घर पहुंचे तो उसके पति ने दरवाजा खोला तथा पूरे आदर सामान के साथ उन्हें अंदर बिठाया। फिर मदन मोहन ने दो जलती हुए सिलाया मांगी तथा उसने अपनी आँख में डाल दी। इस तरह मदन मोहन बने महान कवि सूरदास।

सूरदास की जन्मतिथि एवं जन्मस्थान के विषय में मतभेद

सूरदास की जन्मतिथि एवं जन्मस्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। 'साहित्य लहरी' सूर की लिखी रचना मानी जाती है। इसमें साहित्य लहरी के रचना-काल के सम्बन्ध में निम्न पद मिलता है -

मुनि पुनि के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुवल संवत् पेख

इसका अर्थ संवत् 1607 ईस्वीं में माना गया है, अतएव 'साहित्य लहरी' का रचना काल संवत् 1607 वि0 है। इस ग्रन्थ से यह भी प्रमाण मिलता है कि सूर के गुरु श्री वल्लभाचार्य थे।

सूरदास का जन्म सं0 1540 ईस्वीं के लगभग ठहरता है, क्योंकि वल्लभ सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है कि वल्लभाचार्य सूरदास से दस दिन बड़े थे और वल्लभाचार्य का जन्म उक्त संवत् की वैशाख कृष्ण एकादशी को हुआ था। इसलिए सूरदास की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ला पंचमी, संवत् 1535 वि0 समीचीन जान पड़ती है। अनेक प्रमाणों के आधार पर उनका मृत्यु संवत् 1620 से 1648 ईस्वीं के मध्य स्वीकार किया जाता है। रामचन्द्र शुक्ल जी के मतानुसार सूरदास का जन्म संवत् 1540 वि0 के सन्निकट और मृत्यु संवत् 1620 ईस्वीं के आस-पास माना जाता है।

श्री गुरु बल्लभ तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो।

सूरदास की आयु 'सूरसारावली' के अनुसार उस समय 67 वर्ष थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर उनका जन्म रुनकता अथवा रेणु का क्षेत्र (वर्तमान जिला आगरान्तर्गत) में हुआ था। मथुरा और आगरा के बीच गऊघाट पर ये निवास करते थे। वल्लभाचार्य से इनकी भेंट वहीं पर हुई थी। 'भावप्रकाश' में सूर का जन्म स्थान सीही नामक ग्राम बताया गया है। वे सारस्वत ब्राह्मण थे और जन्म के अंधे थे। 'आइने अकबरी' में (संवत् 1653 ईस्वीं) तथा 'मुतखबुत-तवारीख' के अनुसार सूरदास को अकबर के दरबारी संगीतज्ञों में माना है।

क्या सूरदास जन्मान्ध (blind) थे ?

I am Harshit from universal convent school kaladhungi ½½½ thank you

सूरदास श्रीनाथ की 'संस्कृतवार्ता मणिपाला', श्री हरिराय कृत 'भाव-प्रकाश', श्री गोकुलनाथ की 'निजवार्ता' आदि ग्रन्थों के आधार पर, जन्म के अन्धे माने

गए हैं। लेकिन राधा-कृष्ण के रूप सौन्दर्य का सजीव चित्रण, नाना रंगों का वर्णन, सूक्ष्म पर्यवेक्षणशीलता आदि गुणों के कारण अधिकतर वर्तमान विद्वान सूर को जन्मान्ध स्वीकार नहीं करते।

श्यामसुन्दर दास ने इस सम्बन्ध में लिखा है - 'सूर वास्तव में जन्मान्ध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग-रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मान्ध नहीं कर सकता।' डॉक्टर (हजारीप्रसाद द्विवेदी), ने लिखा है - 'सूरसागर के कुछ पदों से यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि सूरदास अपने को जन्म का अन्धा और कर्म का अभागा कहते हैं, पर सब समय इसके अक्षरार्थ को ही प्रधान नहीं मानना चाहिए।'

सूरसागर

सूरसागर में लगभग एक लाख पद होने की बात कही जाती है। किन्तु वर्तमान संस्करणों में लगभग पाँच हजार पद ही मिलते हैं। विभिन्न स्थानों पर इसकी सौ से भी अधिक प्रतिलिपियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका प्रतिलिपि काल संवत् 1658 वि. से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक है इनमें प्राचीनतम प्रतिलिपि नाथद्वारा (मेवाड़) थे "सरस्वती भण्डार' में सुरक्षित पायी गई हैं। सूरसागर, सूरदास जी का प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें प्रथम नौ अध्याय संक्षिप्त है, पर दशम स्कन्ध का बहुत विस्तार हो गया है। इसमें भक्ति की प्रधानता है।

इसके दो प्रसंग "कृष्ण की बाल-लीला' और "भ्रमर-गीतसार' अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सूरसागर की सराहना करते हुए डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - "काव्य गुणें की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्त्व की याद दिलाता है, बल्कि उस अकृत्रिम वन-भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में घुल-मिल गया है।" दार्शनिक विचारों की दृष्टि से "भागवत' और "सूरसागर' में पर्याप्त अन्तर है।

साहित्य लहरी - यह 118 पदों की एक लघु रचना है। इसके अन्तिम पद में सूरदास का वंशवृक्ष दिया है, जिसके अनुसार सूरदास का नाम सूरजदास है और वे चन्दबरदायी के वंशज सिद्ध होते हैं। अब इसे प्रक्षिप्त अंश माना गया है और शेष रचना पूर्ण प्रामाणिक मानी गई है। इसमें रस, अलंकार और नायिका-भेद का प्रतिपादन किया गया है। इस कृति का रचना-काल स्वयं कवि

ने दे दिया है जिससे यह संवत् विक्रमी में रचित सिद्ध होती है। रस की दृष्टि से यह ग्रन्थ विशुद्ध शृंगार की कोटि में आता है।

कार्य

सूरदास को हिंदी साहित्य का सूरज कहा जाता है। वे अपनी कृति "सूरसागर" के लिये प्रसिद्ध है। कहा जाता है की उनकी इस कृति में लगभग 100000 गीत है, जिनमें से आज केवल 8000 ही बचे हैं। उनके इन गीतों में कृष्ण के बचपन और उनकी लीला का वर्णन किया गया है। सूरदास कृष्ण भक्ति के साथ ही अपनी प्रसिद्ध कृति सूरसागर के लिये भी जाने जाते हैं। इतना ही नहीं सूरसागर के साथ उन्होंने सुर-सारावली और साहित्य-लहरी की भी रचना की है।

सूरदास की मधुर कवितायें और भक्तिमय गीत लोगों को भगवान की तरफ आकर्षित करते थे। धीरे-धीरे उनकी ख्याति बढ़ती गयी, और मुगल शासक अकबर (1542-1605) भी उनके दर्शक बन गये। सूरदास ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों को ब्रज में बिताया। और भजन गाने के बदले उन्हें जो कुछ भी मिलता उन्हीं से उनका गुजारा होता था।

सूरदास जी को वल्लभाचार्य के आठ शिष्यों में प्रमुख स्थान प्राप्त था। इनकी मृत्यु पारसौली नामक स्थान पर हुई। कहा जाता है कि सूरदास ने सवा लाख पदों की रचना की। इनके सभी पद रागनियों पर आधारित हैं। सूरदास जी द्वारा रचित कुल पांच ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, जो निम्नलिखित हैं– सूर सागर, सूर सारावली, साहित्य लहरी, नल दमयन्ती और ब्याहलो। इनमें से नल दमयन्ती और ब्याहलो की कोई भी प्राचीन प्रति नहीं मिली है। कुछ विद्वान तो केवल सूरसागर को ही प्रामाणिक रचना मानने के पक्ष में हैं।

सूरदास गीत गाने लगा, वह इतना विख्यात हो गया कि दिल्ली के बादशाह के पास भी उसकी शोभा जा पहुंची, अपने अहलकारों द्वारा बादशाह ने सूरदास को अपने दरबार में बुला लिया, उसके गीत सुन कर वह इतना खुश हुआ कि सूरदास को एक कस्बे का हाकिम बना दिया, पर ईर्ष्या करने वालों ने बादशाह के पास चुगली करके फिर उसे बुला लिया और जेल में नजरबंद कर दियाद्य सूरदास जेल में रहता था। उसने जब जेल के दारोगा से पूछा कि तुम्हारा नाम क्या है? तो उसने कहा -'तिमर' यह सुन कर सूरदास बहुत हैरान हुआ।

कवि था, ख्यालों की उड़ान में सोचा, 'तिमर'.....मेरी आंखें नहीं मेरा जीवन तिमर (अन्धेर) में, बंदीखाना तिमर (अन्धेरा) तथा रक्षक भी तिमर (अन्धेर)!' उसने एक गीत की रचना की तथा उस गीत को बार-बार गाने लगा। वह गीत जब बादशाह ने सुना तो खुश होकर सूरदास को आजाद कर दिया, तथा सूरदास दिल्ली जेल में से निकल कर मथुरा की तरफ चला गया। रास्ते में कुआं था, उसमें गिरा, पर बच गया तथा मथुरा-वृंदावन पहुंच गया। वहां भगवान कृष्ण का यश गाने लगा।

ग्रंथ और काव्ये

सूरदास के मत अनुसार श्री कृष्ण भक्ति करने और उनके अनुग्रह प्राप्त होने से मनुष्य जीव आत्मा को सद्गति प्राप्त हो सकती है। सूरदास ने वात्सल्य रस, शांत रस, और श्रृंगार रस को अपनाया था। सूरदास ने केवल अपनी कल्पना के सहारे श्री कृष्ण के बाल्य रूप का अद्भूत, सुंदर, दिव्य वर्णन किया था। जिसमें बाल-कृष्ण की चपलता, स्पर्द्धा अभिलाषा, और आकांक्षा का वर्णन कर के विश्वव्यापी बाल-कृष्ण स्वरूप का वर्णन प्रदर्शित किया था।

सूरदास ने अत्यंत दुर्लभ ऐसा "भक्ति और श्रृंगार" को मिश्रित कर के, संयोग-वियोग जैसा दिव्य वर्णन किया था जिसे किसी और के द्वारा पुनः रचना अत्यंत कठिन होगा। स्थान संस्थान पर सूरदास के द्वारा लिखित कूट पद बेजोड़ हैं। यशोदा मैया के पात्र के शील गुण पर सूरदास लिखे चित्रण प्रशंसनीय हैं। सूरदास के द्वारा लिखी गई कविताओं में प्रकृति-सौन्दर्य का सुंदर, अद्भूत वर्णन किया गया है। सूरदास कविताओं में पूर्व कालीन आख्यान, और ऐतिहासिक स्थानों का वर्णन निरंतर होता था। सूरदास हिन्दी साहित्य के महा कवि माने जाते हैं।

श्रीमद्भागवत गीता के गायन में सूरदास जी की रुचि बचपन से ही थी और आपसे भक्ति का एक पद सुनकर महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने आपको अपना शिष्य बना लिया और आप श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तन करने लगे। अष्टछाप के कवियों में सूरदास जी सर्वश्रेष्ठ कवि माने गए हैं, अष्टछाप का संगठन वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने किया था।

रचनाएं

सूरदास की रचनाओं में निम्नलिखित पाँच ग्रन्थ बताए जाते हैं –

1. सूरसागर
2. सूरसारावली
3. साहित्य-लहरी
4. नल-दमयन्ती
5. ब्याहलो

आयु जीवन काल में सूरदास ने कई ग्रंथ लिखे और काव्य पद की रचना की। सूरदास का जीवन कृष्ण भक्ति के लिए समर्पित था।

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों की विवरण तालिका में सूरदास के 16 ग्रन्थों का उल्लेख है। इनमें सूरसागर, सूरसारावली, साहित्य लहरी, नल-दमयन्ती, ब्याहलो के अतिरिक्त दशमस्कंध टीका, नागलीला, भागवत, गोवर्धन लीला, सूरपचीसी, सूरसागर सार, प्राणप्यारी, आदि ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इनमें प्रारम्भ के तीन ग्रंथ ही महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं, साहित्य लहरी की प्राप्त प्रति में बहुत प्रक्षिप्तांश जुड़े हुए हैं।

'साहित्य लहरी, सूरसागर, सूर की सारावली। श्रीकृष्ण जी की बाल-छवि पर लेखनी अनुपम चली।।'

सूरसागर का मुख्य वर्ण्य विषय श्री कृष्ण की लीलाओं का गान रहा है।

सूरसारावली में कवि ने जिन कृष्ण विषयक कथात्मक और सेवा परक पदों का गान किया उन्हीं के सार रूप में उन्होंने सारावली की रचना की है।

साहित्यलहरी में सूर के दृष्टिकूट पद संकलित हैं।

सूरदास की काव्यगत विशेषताएँ

1. सूरदास के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण के अनुग्रह से मनुष्य को सद्गति मिल सकती है। अटल भक्ति कर्मभेद, जातिभेद, ज्ञान, योग से श्रेष्ठ है।
2. सूर ने वात्सल्य, श्रृंगार और शांत रसों को मुख्य रूप से अपनाया है। सूर ने अपनी कल्पना और प्रतिभा के सहारे कृष्ण के बाल्य-रूप का अति सुंदर, सरस, सजीव और मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। बालकों की चपलता, स्पर्द्धा, अभिलाषा, आकांक्षा का वर्णन करने में विश्व व्यापी बाल-स्वरूप का चित्रण किया है। बाल-कृष्ण की एक-एक चेष्टा के चित्रण में कवि ने कमाल की होशियारी एवं सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है-

मैया कबहिं बढ़ैगी चौटी?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।

सूर के कृष्ण प्रेम और माधुर्य प्रतिमूर्ति है। जिसकी अभिव्यक्ति बड़ी ही स्वाभाविक और सजीव रूप में हुई है।

3. जो कोमलकांत पदावली,भावानुकूल शब्द-चयन, सार्थक अलंकार-योजना, धारावाही प्रवाह, संगीतात्मकता एवं सजीवता सूर की भाषा में है, उसे देखकर तो यही कहना पड़ता है कि सूर ने ही सर्वप्रथम ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया है।
4. सूर ने भक्ति के साथ श्रृंगार को जोड़कर उसके संयोग-वियोग पक्षों का जैसा वर्णन किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।
5. सूर ने विनय के पद भी रचे हैं, जिसमें उनकी दास्य-भावना कहीं-कहीं तुलसीदास से आगे बढ़ जाती है-
   हमारे प्रभु औगुन चित न धरौ।
   समदरसी है मान तुम्हारौ, सोई पार करौ।
6. सूर ने स्थान-स्थान पर कूट पद भी लिखे हैं।
7. प्रेम के स्वच्छ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया है यह सूरदास की अपनी विशेषता है। वियोग के समय राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है, वह इस प्रेम के योग्य है
8. सूर ने यशोदा आदि के शील, गुण आदि का सुंदर चित्रण किया है।
9. सूर का भ्रमरगीत वियोग-श्रृंगार का ही उत्कृष्ट ग्रंथ नहीं है, उसमें सगुण और निर्गुण का भी विवेचन हुआ है। इसमें विशेषकर उद्धव-गोपी संवादों में हास्य-व्यंग्य के अच्छे छींटें भी मिलते हैं।
10. सूर काव्य में प्रकृति-सौंदर्य का सूक्ष्म और सजीव वर्णन मिलता है।
11. सूर की कविता में पुराने आख्यानों और कथनों का उल्लेख बहुत स्थानों में मिलता है।
12. सूर के गेय पदों में हृदयस्थ भावों की बड़ी सुंदर व्यजना हुई है। उनके कृष्ण-लीला संबंधी पदों में सूर के भक्त और कवि हृदय की सुंदर झाँकी मिलती है।
13. सूर का काव्य भाव-पक्ष की दृष्टि से ही महान नहीं है, कला-पक्ष की दृष्टि से भी वह उतना ही महत्त्वपूर्ण है। सूर की भाषा सरल, स्वाभाविक तथा वाग्वैदिग्धपूर्ण है। अलंकार-योजना की दृष्टि से भी उनका कला-पक्ष

सबल है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सूर की कवित्व-शक्ति के बारे में लिखा है-

सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार-शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास हिंदी साहित्य के महाकवि हैं, क्योंकि उन्होंने न केवल भाव और भाषा की दृष्टि से साहित्य को सुसज्जित किया, वरन् कृष्ण-काव्य की विशिष्ट परंपरा को भी जन्म दिया।

मीरा बाई

मीराबाई (1498-1546)कृष्ण भक्त हैं उनकी कविता कृष्ण भक्ति के रंग में रंग कर और गहरी हो जाती है। मीरा बाई ने कृष्ण भक्ति के स्फुट पदों की रचना की है।

जीवन परिचय

मीराबाई का जन्म सन् 1498 ई. विक्रमी में मेड़ता में दूदा जी के चौथे पुत्र रतन सिंह के घर हुआ। (कई किताबों में कुड़की बताया जाता है, जो बिल्कुल सही है) ये बचपन से ही कृष्णभक्ति में रुचि लेने लगी थीं। मीरा का जन्म राठौर राजपूत परिवार में हुआ व उनका विवाह मेवाड़ के सिसोदिया राज परिवार में हुआ। उदयपुर के महाराजा भोजराज इनके पति थे जो मेवाड़ के महाराणा सांगा के पुत्र थे। विवाह के कुछ समय बाद ही उनके पति का देहान्त हो गया। पति की मृत्यु के बाद उन्हें पति के साथ सती करने का प्रयास किया गया, किन्तु मीरा इसके लिए तैयार नहीं हुई। वे संसार की ओर से विरक्त हो गयीं और साधु-संतों की संगति में हरिकीर्तन करते हुए अपना समय व्यतीत करने लगीं। पति के परलोकवास के बाद इनकी भक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। ये मंदिरों में जाकर वहाँ मौजूद कृष्ण भक्तों के सामने कृष्ण जी की मूर्ति के आगे नाचती रहती थीं। मीराबाई का कृष्णभक्ति में नाचना और गाना राज परिवार को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने कई बार मीराबाई को विष देकर मारने की कोशिश की। घर वालों के इस प्रकार के व्यवहार से परेशान होकर वह द्वारका और वृंदावन गई। वह जहाँ जाती थी, वहाँ लोगों का सम्मान मिलता था। लोग उन्हें देवी के जैसा प्यार और सम्मान देते थे। मीरा का समय बहुत बड़ी राजनैतिक

उथल-पुथल का समय रहा है। बाबर का हिंदुस्तान पर हमला और प्रसिद्ध खानवा की लड़ाई जो की बाबर और राणा संग्राम सिंह के बीच हुई, जिसमें राणा सांगा की पराजय हुई और भारत में मुगलों का आधिपत्य शुरू हुआ। इन सभी परिस्तिथियों के बीच मीरा का रहस्यवाद और भक्ति की निर्गुण मिश्रित सगुण पद्धत्ति सवर्मान्य बनी।

द्वारका में संवत् 1603(1546 ई.)विक्रम वो भगवान कृष्ण की मूर्ति में समा गईं।

स्वामी हरिदास

स्वामी हरिदास (1480 - 1575) भक्त कवि, शास्त्रीय संगीतकार तथा कृष्णोपासक सखी संप्रदाय के प्रवर्तक थे। इन्हें ललिता सखी का अवतार माना जाता है। वे वैष्णव भक्त थे तथा उच्च कोटि के संगीतज्ञ भी थे। वे प्राचीन शास्त्रीय संगीत के अद्‌भुत विद्वान एवम् चतुष् ध्रुपदशैली के रचयिता हैं। प्रसिद्ध गायक तानसेन इनके शिष्य थे। अकबर इनके दर्शन करने वृन्दावन गए थे। 'केलिमाल' में इनके सौ से अधिक पद संग्रहित हैं। इनकी वाणी सरस और भावुक है।

स्वामी हरिदास का जन्म 1490 में हुआ था। इनके जन्म स्थान और गुरु के विषय में कई मत प्रचलित हैं। इनका जन्म समय कुछ ज्ञात नहीं है।

ये महात्मा वृन्दावन में निंबार्क सखी संप्रदाय के संस्थापक थे और अकबर के समय में एक सिद्ध भक्त और संगीत-कला-कोविद माने जाते थे। कविताकाल सन् 1543 से 1560 ई. ठहरता है। प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन इनका गुरूवत् सम्मान करते थे।

यह प्रसिद्ध है कि अकबर बादशाह साधु के वेश में तानसेन के साथ इनका गाना सुनने के लिए गया था। कहते हैं कि तानसेन इनके सामने गाने लगे और उन्होंने जानबूझ कर गाने में कुछ भूल कर दी। इस पर स्वामी हरिदास ने उसी गाने को शुद्ध करके गाया। इस युक्ति से अकबर को इनका गाना सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। पीछे अकबर ने बहुत कुछ पूजा चढ़ानी चाही पर इन्होंने स्वीकार नहीं की।

संत तुकाराम (1608-1650), जिन्हें तुकाराम के नाम से भी जाना जाता है सत्रहवीं शताब्दी के एक महान संत कवि थे, जो भारत में लंबे समय तक चले भक्ति आंदोलन के एक प्रमुख स्तंभ थे।

तुकाराम का जीवन चरित

तुकाराम का जन्म पुणे जिले के अंतर्गत देहू नामक ग्राम में शके 1520, सन् 1598 में हुआ। इनकी जन्मतिथि के संबंध में विद्वानों में मतभेद है तथा सभी दृष्टियों से विचार करने पर शके 1520 में जन्म होना ही मान्य प्रतीत होता है। पूर्व के आठवें पुरुष विश्वंभर बाबा से इनके कुल में विट्ठल की उपासना बराबर चली आ रही थी। इनके कुल के सभी लोग पंढरपुर की यात्रा (वारी) के लिये नियमित रूप से जाते थे। देहू गाँव के महाजन होने के कारण वहाँ इनका कुटुब प्रतिष्ठित माना जाता था। इनकी बाल्यावस्था माता कनकाई व पिता बहेबा (बोल्होबा) की देख-रेख में अत्यंत दुलार से बीती, किंतु जब ये प्राय: 18 वर्ष के थे इनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया तथा इसी समय देश में पड़े भीषण अकाल के कारण इनकी प्रथम पत्नी व छोटे बालक की भूख के कारण तड़पते हुए मृत्यु हो गई। विपत्तियों की ये बातें झूठी हैं संत तुकाराम उस जमाने में बहुत बड़े जमींदार और साहूकार थे ये झुठी बाते है ये लिखावटे झूठी है ज्वालाओं में झुलसे हुए तुकाराम का मन प्रपंच से ऊब गया। इनकी दूसरी पत्नी जीजा बाई बड़ी ही कर्कशा थी। ये सांसारिक सुखों से विरक्त हो गए। चित्त को शांति मिले, इस विचार से तुकाराम प्रतिदिन देहू गाँव के समीप भावनाथ नामक पहाड़ी पर जाते और भगवान् विट्ठल के नामस्मरण में दिन व्यतीत करते।

प्रपंचपराङ्मुख हो तन्मयता से परमेश्वर प्राप्ति के लिये उत्कंठित तुकाराम को बाबा जी चैतन्य नामक साधु ने 'रामकृष्ण हरि' मंत्र का स्वप्न में उपदेश दिया। इसके उपरांत इन्होंने 17 वर्ष संसार को समान रूप से उपदेश देने में व्यतीत किए। सच्चे वैराग्य तथा क्षमाशील अंत:करण के कारण इनकी निंदा करनेवाले निंदक भी पश्चताप करते हुए इनके भक्त बन गए। इस प्रकार भगवत धर्म का सबको उपदेश करते व परमार्थ मार्ग को आलोकित करते हुए अधर्म का खंडन करने वाले तुकाराम ने फाल्गुन बदी (कृष्ण) द्वादशी, शके 1571 को देव विसर्जन किया।

तुकाराम के मुख से समय-समय पर सहज रूप से प्ररस्फुटित होने वाली 'अभंग' वाणी के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई विशेष साहित्यिक कृति नहीं है। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में इनके द्वारा गाए गए तथा उसी क्षण इनके शिष्यों द्वारा लिखे गए लगभग 4000 अभंग आज उपलब्ध हैं।

संत ज्ञानेश्वर द्वारा लिखी गई 'ज्ञानेश्वरी' तथा श्री एकनाथ द्वारा लिखित 'एकनाथी भागवत' के बारकरी संप्रदाय वालों के प्रमुख धर्मग्रंथ हैं। इस वांड्वमय

की छाप तुकाराम के अंभंगों पर दिखलाई पड़ती हैं। तुकाराम ने अपनी साधक अवस्था में इन पूर्वकालीन संतों के ग्रंथों का गहराई तथा श्रद्धा से अध्ययन किया। इन तीनों संत कवियों के साहित्य में एक ही आध्यात्म सूत्र पिरोया हुआ है तथा तीनों के पारमार्थिक विचारों का अंतरंग भी एकरूप है। ज्ञानदेव की सुमधुर वाणी काव्यालंकार से मंडित है, एकनाथ की भाषा विस्तृत और रसप्लावित है पर तुकाराम की वाणी सूत्रबद्ध, अल्पाक्षर, रमणीय तथा मर्मभेदक हैं।

तुकाराम महाराज का जन्मस्थल और वास्तव्यस्थान

तुकाराम का अभंग वाड्वमय अत्यंत आत्मपर होने के कारण उसमें उनके पारमार्थिक जीवन का संपूर्ण दर्शन होता है। कौटुंबिक आपत्तियों से त्रस्त एक सामान्य व्यक्ति किस प्रकार आत्म साक्षात्कारी संत बन सका, इसका स्पष्ट रूप उनके अभंगों में दिखलाई पड़ता है। उनमें उनके आध्यात्मिक चरित्र की साकार रूप में तीन अवस्थाएँ दिखलाई पड़ती हैं।

प्रथम साधक अवस्था में तुकाराम मन में किए किसी निश्चयानुसार संसार से निवृत्त तथा परमार्थ की ओर प्रवृत दिखलाई पड़ते हैं।

दूसरी अवस्था में ईश्वर साक्षात्कार के प्रयत्न को असफल होते देखकर तुकाराम अत्यधिक निराशा की स्थिति में जीवनयापन करने लगे। उनके द्वारा अनुभूत इस चनम नैराश्य का जो सविस्तार चित्रण अंभंग वाणी में हुआ हैं उसकी हृदयवेधकता मराठी भाषा में सर्वथा अद्वितीय है।

किंकर्त्तव्यमूढ़ता के अंधकार में तुकाराम जी की आत्मा को तड़पाने वाली घोर तमस्विनी का शीघ्र ही अंत हुआ और आत्म-साक्षात्कार के सूर्य से आलोकित तुकाराम ब्रह्मानंद में विभोर हो गए। उनके आध्यात्मिक जीवनपथ की यह अंतिम एवं चिरवांछित सफलता की अवस्था थी।

इस प्रकार ईश्वर प्राप्ति की साधना पूर्ण होने के उपरांत तुकाराम के मुख से जो उपदेशवाणी प्रकट हुई वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण और अर्थपूर्ण है। स्वभावतः स्पष्टवादी होने के कारण इनकी वाणी में जो कठोरता दिखलाई पड़ती है, उसके पीछे इनका प्रमुख उद्देश्य समाज से दुष्टों का निर्दलन कर धर्म का संरक्षण करना ही था। इन्होंने सदैव सत्य का ही अवलंबन किया और किसी की प्रसन्नता और अप्रसन्नता की ओर ध्यान न देते हुए धर्म संरक्षण के साथ-साथ पाखंड-खंडन का कार्य निरंतर चलाया। दाभिक संत, अनुभवशून्य पोथीपंडित, दुराचारी धर्मगुरु इत्यादि समाज कंटकों की उन्होंने अत्यंत तीव्र आलोचना की है।

तुकाराम मन से भाग्यवादी थे, अतः उनके द्वारा चित्रित मानवी संसार का चित्र निराशा, विफलता और उद्वेग से रँगा हुआ है, तथापि उन्होंने सांसारिकों के लिये 'संसार का त्याग करो' इस प्रकार का उपदेश कभी नहीं दिया। इनके उपदेश का यही सार है कि संसार के क्षणिक सुख की अपेक्षा परमार्थ के शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये मानव का प्रयत्न होना चाहिए।

तुकाराम की अधिकांश काव्य रचना केवल अभंग छंद में ही है, तथापि उन्होंने रूपकात्मक रचनाएँ भी की हैं। सभी रूपक काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। इनकी वाणी श्रोताओं के कान पर पड़ते ही उनके हृदय को पकड़ लेने का अद्भुत सामर्थ्य रखती है। इनके काव्यों में अलंकारों का या शब्द चमत्कार का प्राचुर्य नहीं है। इनके अभंग सूत्रबद्ध होते हैं। थोड़े शब्दों में महान् अर्थों को व्यक्त करने का इनका कौशल मराठी साहित्य में अद्वितीय है।

तुकाराम की आत्मनिष्ठ अभंगवाणी जनसाधारण को भी परम प्रिय लगती है। इसका प्रमुख कारण है कि सामान्य मानव के हृदय में उद्भूत होने वाले सुख, दुःख, आशा, निराशा, राग, लोभ आदि का प्रकटीकरण इसमें दिखलाई पड़ता है। तुकाराम के वाङ्वमंय ने जन के हृदय में ध्रुव स्थान प्राप्त कर लिया है। ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि संतों ने भागवत धर्म की पत्ताका को अपने कंधों पर ही लिया था किंतु तुकाराम ने उसे अपने जीवनकाल ही में अधिक ऊँचे स्थान पर फहरा दिया। उन्होंने अध्यात्म ज्ञान को सुलभ बनाया तथा भक्ति का डंका बजाते हुए आवाल वृद्धों के लिये सहज सुलभ साध्य ऐसे भक्ति मार्ग को अधिक उज्जवल कर दिया।

तुकाराम की मूल शिक्षाएँ

संत तुकाराम ने इस बात पर बल दिया है कि सभी मनुष्य परमपिता ईश्वर की संतान हैं और इस कारण समान हैं। संत तुकाराम द्वारा 'महाराष्ट्र धर्म' का प्रचार हुआ जिसके सिद्धांत भक्ति आंदोलन से प्रभावित थे। महाराष्ट्र धर्म का तत्कालीन सामाजिक विचारधारा पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि इसे जाति और वर्ण व्यवस्था पर कुठाराघात करने में सफलता प्राप्त नहीं हुई, किंतु इससे इंकार नहीं किया जा सकता है कि समानता के सिद्धांत के प्रतिपादन द्वारा इसके प्रणेता वर्णव्यवस्था को लचीला बनाने में अवश्य सफल हुए। महाराष्ट्र धर्म का उपयोग शिवाजी ने उच्चवर्गीय मराठों तथा कुन्बियों बहुजन शुद्र को एकसूत्र में बाँधने के लिए किया।

समर्थ रामदास

समर्थ रामदास (1606 - 1682) महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध सन्त थे। वे छत्रपति शिवाजी के गुरु थे। उन्होने दासबोध नामक एक ग्रन्थ की रचना की जो मराठी में है।

जीवन चरित

समर्थ रामदास का मूल नाम 'नारायण सूर्याजीपंत कुलकर्णी' (ठोसर) था। इनका जन्म महाराष्ट्र के जालना जिले के जांब नामक स्थान पर रामनवमी के दिन मध्यान्ह में जमदग्नी गोत्र के देशस्थ ऋग्वेदी ब्राह्मण परिवार में सन् 160, में हुआ। समर्थ रामदास जी के पिता का नाम सूर्याजी पन्त था। वे सूर्यदेव के उपासक थे और प्रतिदिन 'आदित्यहृदय' स्तोत्र का पाठ करते थे। वे गाँव के पटवारी थे लेकिन उनका बहुत-सा समय उपासना में ही बीतता था। उनकी माता का नाम राणुबाई था। वे संत एकनाथ जी के परिवार की दूर की रिश्तेदार थी। वे भी सूर्य नारायण की उपासिका थीं। सूर्यदेव की कृपा से सूर्याजी पन्त को दो पुत्र गंगाधर स्वामी और नारायण (समर्थ रामदास) हुए। समर्थ रामदास जी के बड़े भाई का नाम गंगाधर था। उन्हें सब 'श्रेष्ठ' कहते थे। वे आध्यात्मिक सत्पुरुष थे। उन्होंने 'सुगमोपाय 'नामक ग्रन्थ की रचना की है। मामा का नाम भानजी गोसावी था। वे प्रसिद्ध कीर्तनकार थे।

रामदास जी का बालपन

एक दिन माता राणुबाई ने नारायण (यह उनके बचपन का नाम था) से कहा, 'तुम दिनभर शरारत करते हो, कुछ काम किया करो। तुम्हारे बड़े भाई गंगाधर अपने परिवार की कितनी चिंता करते हैं!' यह बात नारायण के मन में घर कर गई। दो-तीन दिन बाद यह बालक अपनी शरारत छोड़कर एक कमरे में ध्यानमग्न बैठ गया। दिनभर में नारायण नहीं दिखा तो माता ने बड़े बेटे से पूछा कि नारायण कहाँ है।

उसने भी कहा, 'मैंने उसे नहीं देखा।' दोनों को चिंता हुई और उन्हें ढूँढ़ने निकले पर, उनका कोई पता नहीं चला। शाम के वक्त माता ने कमरे में उन्हें ध्यानस्थ देखा तो उनसे पूछा, 'नारायण, तुम यहाँ क्या कर रहे हो?' तब नारायण ने जवाब दिया, 'मैं पूरे विश्व की चिंता कर रहा हूँ।'

इस घटना के बाद नारायण की दिनचर्या बदल गई। उन्होंने समाज के युवा वर्ग को यह समझाया कि स्वस्थ एवं सुगठित शरीर के द्वारा ही राष्ट्र की उन्नति संभव है। इसलिए उन्होंने व्यायाम एवं कसरत करने की सलाह दी एवं शक्ति के उपासक हनुमान जी की मूर्ति की स्थापना की। समस्त भारत का उन्होंने पद-भ्रमण किया। जगह-जगह पर हनुमान जी की मूर्ति स्थापित की, जगह-जगह मठ एवं मठाधीश बनाए ताकि पूरे राष्ट्र में नव-चेतना का निर्माण हो।

रामदास जी का तप

तपश्चर्या

12 वर्ष की अवस्था में अपने विवाह के समय 'शुभमंगल सावधान' में 'सावधान' शब्द सुनकर वे विवाहमंडप से निकल गए और टाकली नामक स्थान पर श्रीरामचंद्र की उपासना में संलग्न हो गए। उपासना में 12 वर्ष तक वे लीन रहे। यहीं उनका नाम 'रामदास' पड़ा। गृहत्याग करने के बाद 12 वर्ष के नारायण नासिक के पास टाकली नाम के गाँव को आए। वहाँ नंदिनी और गोदावरी नदियों का संगम है। इसी भूमि को अपनी तपोभूमि बनाने का निश्चय करके उन्होंने कठोर तप शुरू किया। वे प्रातः ब्रह्ममुहूर्त में उठकर प्रतिदिन 1200 सूर्य नमस्कार लगाते थे। उसके बाद गोदावरी नदी में खड़े होकर राम नाम और गायत्री मंत्र का जाप करते थे। दोपहर में केवल 5 घर की भिक्षा मांग कर वह प्रभु रामचंद्र जी को भोग लगाते थे। उसके बाद प्रसाद का भाग प्राणियों और पंछियों को खिलाने के बाद स्वयं ग्रहण करते थे। दोपहर में वे वेद, वेदांत, उपनिषद्, शास्त्र ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। उसके बाद फिर नामजप करते थे। उन्होंने 13 करोड़ राम नाम जप 12 वर्षों में किया। ऐसा कठोर तप उन्होंने 12 वर्षों तक किया। इसी समय में उन्होंने स्वयं एक रामायण लिखा। यही पर प्रभु रामचन्द्र की जो प्रार्थनायें उन्होंने रची हैं वह 'करुणाष्टक' नाम से प्रसिद्ध है। तप करने के बाद उन्हें आत्म साक्षात्कार हुआ, तब उनकी आयु 24 वर्षों की थी। टाकली में ही समर्थ रामदास जी प्रथम हनुमान का मंदिर स्थापन किया।

तीर्थयात्रा और भारतभ्रमण

आत्म-साक्षात्कार होने के बाद समर्थ रामदास तीर्थयात्रा पर निकल पड़े। 12 वर्ष तक वे भारतवर्ष का भ्रमण करते रहे। घुमते-घुमते वे हिमालय आये।

हिमालय का पवित्र वातावरण देखने के बाद मूलत: विरक्त स्वभाव के रामदास जी के मन का वैराग्यभाव जागृत हो गया। अब आत्मसाक्षात्कार हो गया, ईश्वर दर्शन हो गया, तो इस देह को धारण करने की क्या जरुरत है ? ऐसा विचार उनके मन में आया। उन्होंने खुद को 1000 फीट से मंदाकिनी नदी में झोंक दिया। लेकिन उसी समय प्रभुराम ने उन्हें ऊपर ही उठ लिया और धर्म कार्य करने की आज्ञा दी। अपने शरीर को धर्म के लिए अर्पित करने का निश्चय उन्होंने कर दिया। तीर्थ यात्रा करते हुए वे श्रीनगर आए। वहाँ उनकी भेंट सिखों के के गुरु हरगोविंद जी महाराज से हुई। गुरु हरगोविंद जी महाराज ने उन्हें धर्म रक्षा हेतु शस्त्र सज्ज रहने का मार्गदर्शन किया। इस समय में उन्होंने जनता की जो दुर्दशा देखी उससे उनका हृदय संतप्त हो उठा। उन्होंने मोक्षसाधना के साथ ही अपने जीवन का लक्ष्य स्वराज्य की स्थापना द्वारा आततायी शासकों के अत्याचारों से जनता को मुक्ति दिलाना बनाया। शासन के विरुद्ध जनता को संघटित होने का उपदेश देते हुए वे घूमने लगे। इसी प्रयत्न में उन्हें छत्रपति श्रीशिवाजी महाराज जैसे योग्य शिष्य का लाभ हुआ और स्वराज्य स्थापना के स्वप्न को साकार होते हुए देखने का सौभाग्य उन्हें अपने जीवनकाल में ही प्राप्त हो सका। उन्होंने शके 1603 में 73 वर्ष की अवस्था में महाराष्ट्र में सज्जनगढ़ नामक स्थान पर समाधि ली।

शिष्यमंडल

कल्याण स्वामी
उद्धव स्वामी
दत्तात्रय स्वामी
आचार्य गोपालदास
भीम स्वामी
दिनकर स्वामी
केशव स्वामी
हणमंत स्वामी
रघुनाथ स्वामी
रंगनाथ स्वामी
भोलाराम
वेणा बाई
आक्का बाई

अनंतबुवा मेथवडेकर
दिवाकर स्वामी
वासुदेव स्वामी
गिरिधर स्वामी
मेरु स्वामी
अनंत कवी

प्रभु दर्शन

बचपन में ही उन्हें साक्षात् प्रभु रामचंद्रजी के दर्शन हुए थे। इसलिए वे अपने आपको रामदास कहलाते थे। रामदास स्वामी ने बहुत से ग्रंथ लिखे। इसमें 'दासबोध' प्रमुख है। इसी प्रकार उन्होंने हमारे मन को भी संस्कारित किया 'मनाचे 'लोक' द्वारा।

समर्थ रामदास स्वामीजी कि समाधि

अपने जीवन का अंतिम समय उन्होंने सातारा के पास परली के किले पर व्यतीत किया। इस किले का नाम सज्जनगढ़ पड़ा। तमिलनाडु प्रान्त के तंजावर ग्राम में रहने वाले 'अरणिकर ' नाम के अंध कारीगर ने प्रभु श्री रामचंद्र जी, माता सीता जी, लक्ष्मण जी कि मूर्ति बनाकर सज्जनगढ़ को भेज दी। इसी मूर्ति के सामने समर्थजी ने अंतिम पांच दिन निर्जल उपवास किया। और पूर्व सूचना देकर माघ वद्य नवमी शालिवाहन सन् 1682 को रामनाम जाप करते हुए पद्मासन में बैठकर ब्रह्मलीन हो गए। वहीं उनकी समाधि स्थित है। यह समाधि दिवस 'दासनवमी' के नाम से जाना जाता हैं। यहाँ पर दास नवमी पर 2 से 3 लाख भक्त दर्शन के लिए आते हैं।

प्रतिवर्ष समर्थ रामदास स्वामी के भक्त भारत के विभिन्न प्रांतों में 2 माह का दौरा निकालते हैं और दौरे में मिली भिक्षा से सज्जनगढ़ की व्यवस्था चलती है।

व्यक्तित्त्व

समर्थ जी का व्यक्तित्त्व भक्ति ज्ञान वैराग्य से ओत-प्रोत था। मुखमण्डल पर दाढ़ी तथा मस्तक पर जटाएं, भालप्रदेश पर चन्दन का टीका रहता था। उनके कंधे पर भिक्षा के लिए झोली रहती थी। एक हाथ में जपमाला और कमण्डलु

तथा दूसरे हाथ में योगदण्ड (कुबड़ी) होती थी। पैरों में लकड़ी कि पादुकाए धारण करते थे। योगशास्त्र के अनुसार उनकी भूचरी मुद्रा थी। मुख में सदैव रामनाम का जाप चलता था और बहुत कम बोलते थे। वे संगीत के उत्तम जानकार थे। उन्होनें अनेकों रागो में गायी जानेवाली रचनाएं की हैं। आप प्रतिदिन 1200 सूर्यनमस्कार लगाते थे इस कारण शरीर अत्यंत बलवान था। जीवन् के अंतिम कुछ वर्ष छोड़कर पूरे जीवम में वे कभी एक जगह पर नहीं रुके। उनका वास्तव्य दुर्गम गुफाएं, पर्वत शिखर, नदी के किनारें तथा घने अरण्य में रहता था। ऐसा समकालीन ग्रंथ में उल्लेख है।

ग्रन्थरचना

समर्थ रामदास जी ने दासबोध, आत्माराम, मनोबोध आदि ग्रंथों की रचना है। समर्थ जी का प्रमुख ग्रन्थ 'दासबोध ' गुरुशिष्य संवाद रूप में है। यह ग्रंथराज उन्होनें अपने परमशिष्य योगीराज कल्याण स्वामी के हाथों से महाराष्ट्र के 'शिवथर घल (गुफा)' नामक रम्य एवं दुर्गम गुफा में लिखवाया। इसके साथ उनके द्वारा रची गयी 90 से अधिक आरतियाँ महाराष्ट्र के घर-घर में गायी जातीं है। आपने सैंकड़ो 'अभंग' भी लिखें हैं। समर्थजी स्वयं अद्वैत वेदांति एवं भक्तिमार्गी संत थे किन्तु उन्होंने तत्कालीन समाज कि अवस्था देखकर ग्रंथों में राजनीती, प्रपंच, व्यवस्थापन शास्त्र, इत्यादि अनेको विषयों का मार्गदर्शन किया है। समर्थ जी ने सरल प्रवाही शब्दो में देवी देवताओं के 100 से अधिक के स्तोत्र लिखें हैं। इन स्तोत्र एवं आरतियों में भक्ति, प्रेम एवं वीररस का आविष्करण है। आत्माराम, मानपंचक, पंचीकरण, चतुर्थमान, बाग प्रकरण, स्फूट अभंग इत्यादि समर्थ जी कि अन्य रचनाएं हैं। यह सभी रचनाएं मराठी भाषा के 'ओवी 'नामक छंद में हैं।

कार्य

समर्थ रामदास जी ने अपने शिष्यों के द्वारा समाज में एक चैतन्यदायी संगठन खड़ा किया। उन्होनें सतारा जिले में 'चाफल' नाम के एक गाँव में भव्य श्रीराम मंदिर का निर्माण किया। यह मंदिर निर्माण केवल भिक्षा के आधार पर किया गया कश्मीर से कन्याकुमारी तक उन्होंने 1100 मठ तथा अखाड़े स्थापित कर स्वराज्य स्थापना के लिए जनता को तैयार करने का प्रयत्न किया। शक्ति एवं भक्ति के आदर्श श्री हनुमान जी कि मूर्तियां उन्होनें गाँव-गाँव में स्थापित

कि। आपने अपने सभी शिष्यों को विभिन्न प्रांतों में भेजकर भक्तिमार्ग तथा कर्मयोग कि सिख जनजन में प्रचारित करने कि आज्ञा कि। युवाओं को बल सम्पन्न करने हेतु आपने सूर्य नमस्कार का प्रचार किया। समर्थ जी नें 350 वर्ष पहले संत वेणा स्वामी जैसी विधवा महिला को मठपति का दायित्व देकर कीर्तन का अधिकार दिया। समर्थ रामदास जी के भक्तों एवं अनुयायियोंको ' रामदासी' कहते हैं। समर्थ जी द्वारा स्थापित सम्प्रदाय को 'समर्थ सम्प्रदाय ' अथवा 'रामदासी सम्प्रदाय कहते हैं। 'जय जय रघुवीर समर्थ ' यह सम्प्रदाय का जयघोष है तथा 'श्रीराम जय राम जय जय राम ' जपमन्त्र है। समर्थ जी कि विचारधारा तथा कार्य का प्रभाव लोकमान्य तिलक, स्वातंर्त्यवीर सावरकर, डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार आदि महान नेताओं पर था।

त्यागराज

त्यागराज (तेलुगुरू य 4 मई, 1767–6 जनवरी, 1847) भक्तिमार्गी कवि एवं कर्नाटक संगीत के महान संगीतज्ञ थे। उन्होने समाज एवं साहित्य के साथ–साथ कला को भी समृद्ध किया। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने सैंकड़ों भक्ति गीतों की रचना की जो भगवान राम की स्तुति में थे और उनके सर्वश्रेष्ठ गीत पंचरत्न कृति अक्सर धार्मिक आयोजनों में गाए जाते हैं।

जीवनी

तंजावुर जिले के तिरूवरूर में चार मई 1767 को पैदा हुए त्यागराज की मां का नाम सीताम्मा और पिता का रामब्रह्मम था। वह अपनी एक कृति में कहते हैं – 'सीताम्मा मायाम्मा श्री रामुदु मा तंद्री' (सीता मेरी मां और श्री राम मेरे पिता हैं)। इसके गीत के जरिए शायद वह दो बातें कहना चाहते हैं। एक ओर वास्तविक माता–पिता के बारे में बताते हैं दूसरी ओर प्रभु राम के प्रति अपनी आस्था प्रदर्शित करते हैं। एक अच्छे सुसंस्कृत परिवार में पैदा हुए और पले बढ़े त्यागराज प्रकांड विद्वान और कवि थे। वह संस्कृत ज्योतिष तथा अपनी मातृभाषा तेलुगु के ज्ञाता थे।

त्यागराज के लिए संगीत ईश्वर से साक्षात्कार का मार्ग था और उनके संगीत में भक्ति भाव विशेष रूप से उभर कर सामने आया है। संगीत के प्रति उनका लगाव बचपन से ही था। कम उम्र में ही वह वेंकटरमनैया के शिष्य बन गए और किशोरावस्था में ही उन्होंने पहले गीत 'नमो नमो राघव' की रचना की।

दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत के विकास में प्रभावी योगदान करने वाले त्यागराज की रचनाएं आज भी काफी लोकप्रिय हैं और धार्मिक आयोजनों तथा त्यागराज के सम्मान में आयोजित कार्यक्रमों में उनका खूब गायन होता है। त्यागराज ने मुत्तुस्वामी दीक्षित और 'यामाशास्त्री के साथ कर्नाटक संगीत को नयी दिशा दी और उनके योगदान को देखते हुए उन्हें त्रिमूर्ति की संज्ञा दी गयी।

उनकी संगीत प्रतिभा से तंजावुर नरेश काफी प्रभावित थे और उन्हें दरबार में शामिल होने के लिए आमंत्रित भी किया था। लेकिन प्रभु की उपासना में डूबे त्यागराज ने उनके आकर्षक प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने राजा के प्रस्ताव को अस्वीकार कर प्रसिद्ध कृति 'निधि चल सुखम् यानि क्या धन से सुख की प्राप्ति हो सकती है' की रचना की थी। कहा जाता है कि त्यागराज के भाई ने भगवान राम की वह मूर्ति पास ही कावेरी नदी में फेंक दी थी जिसकी वह अर्चना करते थे। त्यागराज अपने इष्ट से अलगाव को बर्दाश्त नहीं कर सके और घर से निकल पड़े। इस क्रम में उन्होंने दक्षिण भारत के लगभग सभी प्रमुख मंदिरों की यात्रा की और उन मंदिरों के देवताओं की स्तुति में गीत बनाए। त्यागराज ने करीब 600 कृतियों की रचना करने के अलावा तेलुगु में दो नाटक प्रह्लाद भक्ति विजय और नौका चरितम् भी लिखा। प्रह्लाद भक्ति विजय जहां पांच दृश्यों में 45 कृतियों का नाटक है वहीं नौका चरितम् एकांकी है और इसमें 21 कृतियां हैं।

त्यागराज की विद्वता उनकी हर कृति में झलकती है हालांकि पंचरत्न कृति को उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना कहा जाता है। सैंकड़ों गीतों के अलावा उन्होंने उत्सव संप्रदाय कीर्तनम् और दिव्यनाम् कीर्तनम् की भी रचनाएं की। उन्होंने संस्कृत में भी गीतों की रचना की हालांकि उनके अधिकतर गीत तेलुगु में हैं। त्यागराज की रचनाओं के बारे में कहा जाता है कि उनमें सब कुछ अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में है। उसमें कोई भी हिस्सा अनावश्यक नहीं है चाहे संगीत हो या बोल। इसके अलावा उसमें प्रवाह भी ऐसा है, जो संगीत प्रेमियों को अपनी ओर खींच लेता है।

आध्यात्मिक रूप से वह उन लोगों में थे जिन्होंने भक्ति के सामने किसी बात की परवाह नहीं की। उन्हें सिर्फ संगीत एवं भक्ति से लगाव था और ये दोनों उनके लिए पर्यायवाची थे। उनके जीवन का कोई भी पल राम से जुदा

नहीं था। वह अपनी कृतियों में भगवान राम को मित्र मालिक पिता सहायक बताते हैं। अपनी भक्ति के बीच ही उन्होंने छह जनवरी 1847 को समाधि ले ली।

रामकृष्ण परमहंस

रामकृष्ण परमहंस भारत के एक महान संत, आध्यात्मिक गुरु एवं विचारक थे। इन्होंने सभी धर्मों की एकता पर जोर दिया। उन्हें बचपन से ही विश्वास था कि ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं, अत: ईश्वर की प्राप्ति के लिए उन्होंने कठोर साधना और भक्ति का जीवन बिताया। स्वामी रामकृष्ण मानवता के पुजारी थे। साधना के फलस्वरूप वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संसार के सभी धर्म सच्चे हैं और उनमें कोई भिन्नता नहीं। वे ईश्वर तक पहुँचने के भिन्न-भिन्न साधन मात्र हैं।

मानवीय मूल्यों के पोषक संत रामकृष्ण परमहंस का जन्म 18 फरवरी 1836 को बंगाल प्रांत स्थित कामारपुकुर ग्राम में हुआ था। इनके बचपन का नाम गदाधर था। पिताजी का नाम खुदीराम और माताजी का नाम चन्द्रा देवी था। उनके भक्तों के अनुसार रामकृष्ण के माता-पिता को उनके जन्म से पहले ही अलौकिक घटनाओं और दृश्यों का अनुभव हुआ था। गया में उनके पिता खुदीराम ने एक स्वप्न देखा था जिसमें उन्होंने देखा की भगवान गदाधर (विष्णु के अवतार) ने उन्हें कहा कि वे उनके पुत्र के रूप में जन्म लेंगे। उनकी माता चंद्रमणि देवी को भी ऐसा एक अनुभव हुआ था उन्होंने शिव मंदिर में अपने गर्भ में रोशनी को प्रवेश करते हुए देखा

इनकी बालसुलभ सरलता और मंत्रमुग्ध मुस्कान से हर कोई सम्मोहित हो जाता था।

परिवार

सात वर्ष की अल्पायु में ही गदाधर के सिर से पिता का साया उठ गया। ऐसी विपरीत परिस्थिति में पूरे परिवार का भरण-पोषण कठिन होता चला गया। आर्थिक कठिनाइयां आईं। बालक गदाधर का साहस कम नहीं हुआ। इनके बड़े भाई रामकुमार चट्टोपाध्याय कलकत्ता (कोलकाता) में एक पाठशाला के संचालक थे। वे गदाधर को अपने साथ कोलकाता ले गए। रामकृष्ण का अन्तर्मन अत्यंत निश्छल, सहज और विनयशील था। संकीर्णताओं से वह बहुत दूर थे। अपने कार्यों में लगे रहते थे।

दक्षिणेश्वर काली मंदिर

सतत् प्रयासों के बाद भी रामकृष्ण का मन अध्ययन-अध्यापन में नहीं लग पाया। 1855 में रामकृष्ण परमहंस के बड़े भाई रामकुमार चट्टोपाध्याय को दक्षिणेश्वर काली मंदिर (जो रानी रासमणि द्वारा बनवाया गया था) के मुख्य पुजारी के रूप में नियुक्त किया गया था। रामकृष्ण और उनके भांजे हृदय रामकुमार की सहायता करते थे। रामकृष्ण को देवी प्रतिमा को सजाने का दायित्व दिया गया था। 1856 में रामकुमार की मृत्यु के पश्चात् रामकृष्ण को काली मंदिर में पुरोहित के तौर पर नियुक्त किया गया।

रामकुमार की मृत्यु के बाद श्री रामकृष्ण ज्यादा ध्यान मग्न रहने लगे। वे काली माता के मूर्ति को अपनी माता और ब्रम्हांड की माता के रूप में देखने लगे। कहा जाता हैं कि श्री रामकृष्ण को काली माता के दर्शन ब्रम्हांड की माता के रूप में हुआ था। रामकृष्ण इसकी वर्णन करते हुए कहते हैं घर,द्वार,मंदिर और सब कुछ अदृश्य हो गया, जैसे कहीं कुछ भी नहीं था! और मैंने एक अनंत तीर विहीन आलोक का सागर देखा, यह चेतना का सागर था। जिस दिशा में भी मैंने दूर-दूर तक जहाँ भी देखा बस उज्ज्वल लहरें दिखाई दे रही थी, जो एक के बाद एक,मेरी तरफ आ रही थी।

विवाह

अफवाह फैल गयी थी की दक्षिणेश्वर में आध्यात्मिक साधना के कारण रामकृष्ण का मानसिक संतुलन खराब हो गया था। रामकृष्ण की माता और उनके बड़े भाई रामेश्वर रामकृष्ण का विवाह करवाने का निर्णय लिया। उनका यह मानना था कि शादी होने पर गदाधर का मानसिक संतुलन ठीक हो जायेगा, शादी के बाद आने वाली जिम्मेदारियों के कारण उनका ध्यान आध्यात्मिक साधना से हट जाएगा। रामकृष्ण ने खुद उन्हें यह कहा कि वे उनके लिए कन्या जयरामबाटी(जो कामारपुकुर से 3 मिल दूर उत्तर पूर्व की दिशा में हैं) में रामचन्द्र मुखर्जी के घर पा सकते हैं। 1859 में 5 वर्ष की शारदामणि मुखोपाध्याय और 23 वर्ष के रामकृष्ण का विवाह संपन्न हुआ। विवाह के बाद शारदा जयरामबाटी में रहती थी और 18 वर्ष के होने पर वे रामकृष्ण के पास दक्षिणेश्वर में रहने लगी। रामकृष्ण तब संन्यासी का जीवन जीते थे।

वैराग्य और साधना

कालान्तर में बड़े भाई भी चल बसे। इस घटना से वे व्यथित हुए। संसार की अनित्यता को देखकर उनके मन में वैराग्य का उदय हुआ। अन्दर से मन ना करते हुए भी श्रीरामकृष्ण मंदिर की पूजा एवं अर्चना करने लगे। दक्षिणेश्वर स्थित पंचवटी में वे ध्यानमग्न रहने लगे। ईश्वर दर्शन के लिए वे व्याकुल हो गये। लोग उन्हें पागल समझने लगे।

चन्द्रमणि देवी ने अपने बेटे की उन्माद की अवस्था से चिन्तत होकर गदाधर का विवाह शारदा देवी से कर दिया। इसके बाद भैरवी ब्राह्मणी का दक्षिणेश्वर में आगमन हुआ। उन्होंने उन्हें तंत्र की शिक्षा दी। मधुरभाव में अवस्थान करते हुए ठाकुर ने श्रीकृष्ण का दर्शन किया। उन्होंने तोतापुरी महाराज से अद्वैत वेदान्त की ज्ञान लाभ किया और जीवनमुक्त की अवस्था को प्राप्त किया। संयास ग्रहण करने के बाद उनका नया नाम हुआ श्रीरामकृष्ण परमहंस। इसके बाद उन्होंने ईस्लाम और क्रिश्चियन धर्म की भी साधना की।

भक्तों का आगमन

समय जैसे-जैसे व्यतीत होता गया, उनके कठोर आध्यात्मिक अभ्यासों और सिद्धियों के समाचार तेजी से फैलने लगे और दक्षिणेश्वर का मंदिर उद्यान शीघ्र ही भक्तों एवं भ्रमणशील संन्यासियों का प्रिय आश्रय स्थान हो गया। कुछ बड़े-बड़े विद्वान एवं प्रसिद्ध वैष्णव और तांत्रिक साधक जैसे- पं. नारायण शास्त्री, पं. पद्मलोचन तारकालकार, वैष्णवचरण और गौरीकांत तारकभूषण आदि उनसे आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त करते रहे। वह शीघ्र ही तत्कालीन सुविख्यात विचारकों के घनिष्ठ संपर्क में आए, जो बंगाल में विचारों का नेतृत्व कर रहे थे। इनमें केशवचंद्र सेन, विजयकृष्ण गोस्वामी, ईश्वरचंद्र विद्यासागर के नाम लिए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त साधारण भक्तों का एक दूसरा वर्ग था जिसके सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति रामचंद्र दत्त, गिरीशचंद्र घोष, बलराम बोस, महेंद्रनाथ गुप्त (मास्टर महाशय) और दुर्गाचरण नाग थे।

बीमारी और अन्तिम जीवन

रामकृष्ण परमहंस जीवन के अंतिम दिनों में समाधि की स्थिति में रहने लगे, अतः तन से शिथिल होने लगे। शिष्यों द्वारा स्वास्थ्य पर ध्यान देने की

प्रार्थना पर अज्ञानता जानकर हँस देते थे। इनके शिष्य इन्हें ठाकुर नाम से पुकारते थे। रामकृष्ण के परमप्रिय शिष्य विवेकानन्द कुछ समय हिमालय के किसी एकान्त स्थान पर तपस्या करना चाहते थे। यही आज्ञा लेने जब वे गुरु के पास गये तो रामकृष्ण ने कहा–वत्स हमारे आसपास के क्षेत्र के लोग भूख से तड़प रहे हैं। चारों ओर अज्ञान का अंधेरा छाया है। यहां लोग रोते–चिल्लाते रहें और तुम हिमालय की किसी गुफा में समाधि के आनन्द में निमग्न रहो। क्या तुम्हारी आत्मा स्वीकारेगी? इससे विवेकानन्द दरिद्र नारायण की सेवा में लग गये। रामकृष्ण महान योगी, उच्चकोटि के साधक व विचारक थे। सेवा पथ को ईश्वरीय, प्रशस्त मानकर अनेकता में एकता का दर्शन करते थे। सेवा से समाज की सुरक्षा चाहते थे। गले में सूजन को जब डाक्टरों ने कैंसर बताकर समाधि लेने और वार्तालाप से मना किया तब भी वे मुस्कराये। चिकित्सा कराने से रोकने पर भी विवेकानन्द इलाज कराते रहे। चिकित्सा के वाबजूद उनका स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया।

मृत्यु

सन् 1886 ई. में श्रावणी पूर्णिमा के अगले दिन प्रतिपदा को प्रातःकाल रामकृष्ण परमहंस ने देह त्याग दिया। 16 अगस्त का सवेरा होने के कुछ ही वक्त पहले आनन्दघन विग्रह श्रीरामकृष्ण इस नश्वर देह को त्याग कर महासमाधि द्वारा स्व–स्वरूप में लीन हो गये।

उपदेश और वाणी

रामकृष्ण छोटी कहानियों के माध्यम से लोगों को शिक्षा देते थे। कलकत्ता के बुद्धिजीवियों पर उनके विचारों ने जबरदस्त प्रभाव छोड़ा था, हांलाकि उनकी शिक्षायें आधुनिकता और राष्ट्र के आजादी के बारे में नहीं थी। उनके आध्यात्मिक आंदोलन ने परोक्ष रूप से देश में राष्ट्रवाद की भावना बढ़ने का काम किया, क्योंकि उनकी शिक्षा जातिवाद एवं धार्मिक पक्षपात को नकारती है।

रामकृष्ण के अनुसार ही मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य हैं। रामकृष्ण कहते थे की कामिनी –कंचन ईश्वर प्राप्ति के सबसे बड़े बाधक हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस की जीवनी के अनुसार, वे तपस्या, सत्संग और स्वाध्याय आदि आध्यात्मिक साधनों पर विशेष बल देते थे। वे कहा करते थे, 'यदि आत्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखते हो, तो पहले अहमभाव को दूर करो। क्योंकि जब

तक अहंकार दूर न होगा, अज्ञान का पर्दा कदापि न हटेगा। तपस्या, सत्संग, स्वाध्याय आदि साधनों से अहंकार दूर कर आत्म-ज्ञान प्राप्त करो, ब्रह्म को पहचानो।'

रामकृष्ण संसार को माया के रूप में देखते थे। उनके अनुसार अविद्या माया सृजन की काल शक्तियों को दर्शाती हैं (जैसे काम, लोभ,लालच, क्रूरता, स्वार्थी कर्म आदि), यह मानव को चेतना के निचले स्तर पर रखती हैं। यह शक्तियां मनुष्य को जन्म और मृत्यु के चक्र में बांधने के लिए जिम्मेदार हैं। वही विद्या माया सृजन की अच्छी शक्तियों के लिए जिम्मेदार हैं (जैसे – निःस्वार्थ कर्म, आध्यात्मिक गुण, ऊँचे आदर्श, दया, पवित्रता, प्रेम और भक्ति)। यह मनुष्य को चेतन के ऊँचे स्तर पर ले जाती हैं।

अभयचरणारविंद भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद

अभयचरणारविंद भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद (1 सितम्बर 1896 - 14 नवम्बर 1977) जिन्हें स्वामी श्री, भक्तिवेदांत प्रभुपाद के नाम से भी जाना जाता है,सनातन हिन्दू धर्म के एक प्रसिद्ध गौडीय वैष्णव गुरु तथा धर्म प्रचारक थे। आज संपूर्ण विश्व की हिन्दू धर्म भगवान श्री कृष्ण और श्रीमद्भगवतगीता में जो आस्था है आज समस्त विश्व के करोड़ों लोग जो सनातन धर्म के अनुयायी बने हैं उसका श्रेय जाता है अभयचरणारविंद भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद को, इन्होंने वेदान्त कृष्ण-भक्ति और इससे संबंधित क्षेत्रों पर शुद्ध कृष्ण भक्ति के प्रवर्तक श्री ब्रह्म-मध्व-गौड़ीय संप्रदाय के पूर्वाचार्यों की टीकाओं के प्रचार-प्रसार और कृष्ण भावना को पश्चिमी जगत में पहुँचाने का काम किया। ये भक्ति सिद्धांत ठाकुर सरस्वती के शिष्य थे जिन्होंने इनको अंग्रेजी भाषा के माध्यम से वैदिक ज्ञान के प्रसार के लिए प्रेरित और उत्साहित किया। इन्होंने इस्कॉन (ISKCON) की स्थापना की और कई वैष्णव धार्मिक ग्रंथों का प्रकाशन और संपादन स्वयं किया।

इनका नाम 'अभयचरण डे' था और इनका जन्म कलकत्ता में बंगाली कायस्थ परिवार में हुआ था। सन् 1922 में कलकत्ता में अपने गुरुदेव श्री भक्ति सिद्धांत सरस्वती ठाकुर से मिलने के बाद उन्होंने श्रीमद्भग्वद्गीता पर एक टिप्पणी लिखी, गौड़ीय मठ के कार्य में सहयोग दिया तथा 1944 में बिना किसी की सहायता के एक अंग्रेजी पत्रिका आरंभ की जिसके संपादन, टंकण और

परिशोधन (यानि प्रूफ रीडिंग) का काम स्वयं किया। नि:शुल्क प्रतियाँ बेचकर भी इसके प्रकाशन को जारी रखा। सन् 1947 में गौड़ीय वैष्णव समाज ने इन्हें भक्तिवेदान्त की उपाधि से सम्मानित किया, क्योंकि इन्होंने सहज भक्ति के द्वारा वेदान्त को सरलता से हृदयंगम करने का एक परंपरागत मार्ग पुन: प्रतिस्थापित किया, जो भुलाया जा चुका था।

सन् 1959 में संयास ग्रहण के बाद उन्होंने वृंदावन में श्रीमद्भागवतपुराण का अनेक खंडों में अंग्रेजी में अनुवाद किया। आरंभिक तीन खंड प्रकाशित करने के बाद सन् 1965 में अपने गुरुदेव के अनुष्ठान को संपन्न करने वे 70 वर्ष की आयु में बिना धन या किसी सहायता के अमेरिका जाने के लिए निकले जहाँ सन् 1966 में उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ (ISKCON) की स्थापना की। सन् 1968 में प्रयोग के तौर पर वर्जीनिया (अमेरिका) की पहाड़ियों में नव-वृन्दावन की स्थापना की। दो हजार एकड़ के इस समृद्ध कृषि क्षेत्र से प्रभावित होकर उनके शिष्यों ने अन्य जगहों पर भी ऐसे समुदायों की स्थापना की। 1972 में टेक्सस के डैलस में गुरुकुल की स्थापना कर प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की वैदिक प्रणाली का सूत्रपात किया।

सन् 1966 से 1977 तक उन्होंने विश्वभर का 14 बार भ्रमण किया तथा अनेक विद्वानों से कृष्णभक्ति के विषय में वार्तालाप करके उन्हें यह समझाया की कैसे कृष्ण भावना ही जीव की वास्तविक भावना है। उन्होंने विश्व की सबसे बड़ी आध्यात्मिक पुस्तकों की प्रकाशन संस्था- भक्तिवेदांत बुक ट्रस्ट- की स्थापना भी की। कृष्ण भावना के वैज्ञानिक आधार को स्थापित करने के लिए उन्होंने भक्तिवेदांत इंस्टिट्यूट की भी स्थापना की।

पुस्तकें और प्रकाशन

भक्तिवेदांत स्वामी का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान उनकी पुस्तकें हैं। भक्तिवेदांत स्वामी ने 60 से अधिक संस्करणों का अनुवाद किया। वैदिक शास्त्रों - भगवद गीता, चैतन्य चरितामृत और श्रीमद्भागवतम् - का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। इन पुस्तकों का अनुवाद 80 से अधिक भाषाओं में हो चुका है और दुनिया भर में इन पुस्तकों का वितरण हो रहा है।

भक्तिवेदांत बुक ट्रस्ट की स्थापना 1972 में उनके कार्यों को प्रकाशित करने के लिए की गई थी।

1
अंखियां हरि-दरसन की प्यासी।
देख्यौ चाहति कमलनैन कौ" निसि-दिन रहति उदासी।।
आए ऊधै फिरि गए आंगन" डारि गए गर फांसी।
केसरि तिलक मोतिन की माला" वृन्दावन के बासी।।
काहू के मन को कोउ न जानत" लोगन के मन हांसी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कौ" करवत लैहौं कासी।।

2
निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर, जबते स्याम सिधारे।।
अंजन थिर न रहत अँखियन में, कर कपोल भये कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहुँ, उर बिच बहत पनारे।।
आँसू सलिल भये पग थाके, बहे जात सित तारे।
'सूरदास' अब डूबत है ब्रज, काहे न लेत उबारे।।

3
मधुकर! स्याम हमारे चोर।
मन हरि लियो सांवरी सूरत" चितै नयन की कोर।।
पकरयो तेहि हिरदय उर-अंतर प्रेम-प्रीत के जोर।
गए छुड़ाय छोरि सब बंधन दे गए हंसनि अंकोर।।
सोबत तें हम उचकी परी हैं दूत मिल्यो मोहिं भोर।
सूर" स्याम मुसकाहि मेरो सर्वस सै गए नंद किसोर।।

4
बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल" अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं।
बृथा बहति जमुना" खग बोलत" बृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं।

पवन" पानी" धनसार" संजीवनि दधिसुत किरनभानु भई भुंजैं।
ये ऊधो कहियो माधव सों" बिरह करद करि मारत लुंजैं।
सूरदास प्रभु को मग जोवत" अंखियां भई बरन ज्यौं गुजैं।

5
प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्रान दह्यो।।
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सों" संपति हाथ गह्यो।
सारंग प्रीति करी जो नाद सों" सन्मुख बान सह्यो।।
हम जो प्रीति करी माधव सों" चलत न कछू कह्यो।
'सूरदास' प्रभु बिन दुख दूनो" नैननि नीर बह्यो।।
---

6 राग गौरी
कहियौ, नंद कठोर भये।
हम दोउ बीरैं डारि परघरै, मानो थाती सौंपि गये।।
तनक-तनक तैं पालि बड़े किये, बहुतै सुख दिखराये।
गो चारन कों चालत हमारे पीछे कोसक धाये।।
ये बसुदेव देवकी हमसों कहत आपने जाये।
बहुरि बिधाता जसुमतिजू के हमहिं न गोद खिलाये।।
कौन काज यहि राजनगरि कौ, सब सुख सों सुख पाये।
सूरदास, ब्रज समाधान करु, आजु-काल्हि हम आये।।

भावार्थ– श्रीकृष्ण अपने परम ज्ञानी सखा उद्धव को मोहान्ध ब्रजवासियों में ज्ञान प्रचार करने के लिए भेज रहे हैं। इस पद में नंद बाबा के प्रति संदेश भेजा है। कहते है– "बाबा, तुम इतने कठोर हो गये हो कि हम दोनों भाइयों को पराये घर में धरोहर की भांति सौंप कर चले गए। जब हम जरा-जरा से थे, तभी से तुमने हमें पाल-पोसकर बड़ा किया, अनेक सुख दिए। वे बातें भूलने की नहीं। जब हम गाय चराने जाते थे, तब तुम एक कोस तक हमारे पीछे-पीछे दौड़ते चले आते थे। हम तो बाबा, सब तरह से तुम्हारे ही है। पर वसुदेव और देवकी का अनाधिकार तो देखो। ये लोग नंद-यशोदा के कृष्ण-बलराम को आज "अपने

जाये पूत" कहते हैं। वह दिन कब होगा, जब हमें यशोदा मैया फिर अपनी गोद में खिलायेंगी। इस राजनगरी, मथुरा के सुख को लेकर क्या करें ! हमें तो अपने ब्रज में ही सब प्रकार का सूख था। उद्धव, तुम उन सबको अच्छी तरह से समझा-बुझा देना, और कहना कि दो-चार दिन में हम अवश्य आयेंगे।"

शब्दार्थ– बीरैं =भाइयों को। परघरै =दूसरे के घर में। थाती = धरोहर। तनक-तनक तें =छुटपन से। कोसक =एक कोस तक। समाधान =सझना, शांति

---

7 राग सारंग

नीके रहियौ जसुमति मैया।
आवहिंगे दिन चारि पांच में हम हलधर दोउ भैया।।
जा दिन तें हम तुम तें बिछुरै, कह्यौ न कोउ कन्हैया'।
कबहुं प्रात न कियौ कलेवा, सांझ न पीन्हीं पैया।।
वंशी बैत विषान दैखियौ द्वार अबेर सबेरो।
लै जिनि जाइ चुराइ राधिका कछुक खिलौना मेरो।।
कहियौ जाइ नंद बाबा सों, बहुत निठुर मन कीन्हौं।
सूरदास, पहुंचाइ मधुपुरी बहुरि न सोधौ लीन्हौं।।

भावार्थ–कह्यौ न कोउ कन्हैया' यहां मथुरा में तो सब लोग कृष्ण और यदुराज के नाम से पुकारते हैं, मेरा प्यार का कन्हैया' नाम कोई नहीं लेता। लै जिनि जाइ चुराइ राधिका' राधिका के प्रति 12 वर्ष के कुमार कृष्ण का निर्मल प्रेम था,यह इस पंक्ति से स्पष्ट हो जाता है। राधा कहीं मेरा खिलौना न चुरा ले जाये, कैसी बालको-चित सरलोक्ति है।

शब्दार्थ– नीके रहियौ = कोई चिंता न करना। न पीन्हीं पैया = ताजे दूध की धार पीने को नहीं मिली। बिषान = सींग, (बजाने का)। अबेर सबेरी = समय-असमय, बीच-बीच में जब अवसर मिले। सोधौ =खबर भी

---

8 राग देश

जोग ठगौरी ब्रज न बिकहै।
यह ब्योपार तिहारो ऊधौ, ऐसोई फिरि जैहै।।

यह जापे लै आये हौ मधुकर, ताके उर न समैहै।
दाख छांडि कैं कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै।।
मूरी के पातन के कैना को मुकताहल दैहै।
सूरदास, प्रभु गुनहिं छांड़िकै को निरगुन निरबैहै।।

भावार्थ– उद्धव ने कृष्ण-विरहिणी ब्रजांगनाओं को योगभ्यास द्वारा निराकार ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए जब उपदेश दिया, तो वे ब्रजवल्लभ उपासिनी गोपियां कहती हैं कि इस ब्रज में तुम्हारे योग का सौदा बिकने का नहीं। जिन्होंने सगुण ब्रह्म कृष्ण का प्रेमरसपान कर लिया, उन्हें तुम्हारे नीरस निर्गुण ब्रह्म की बातें भला क्यों पसन्द आने लगीं ! अंगूर छोड़कर कौन मूर्ख निबोरियां खायेगा मोतियों को देकर कौन मूढ़ बदले में मूली के पत्ते खरीदेगा ? योग का यह ठग व्यवसाय प्रेमभूमि ब्रज में चलने का नहीं।

शब्दार्थ– ठगौरी = ठगी का सौदा। एसोइ फिरि जैहैं = योंही बिना बेचे वापस ले जाना होगा। जापै = जिसके लिए। उर न समैहै = हृदय में न आएगा। निबौरी =नींम का फल। मूरी = मूली। केना =अनाज के रूप में साग-भाजी की कीमत, जिसे देहात में कहीं-कहीं देकर मामूली तरकारियां खरीदते थे। मुकताहल = मोती। निर्गुन =सत्य, रज और तमोगुण से रहित निराकार ब्रह्म।

---

9 राग टोडी
ऊधो, होहु इहां तैं न्यारे।
तुमहिं देखि तन अधिक तपत है, अरु नयननि के तारेघ
अपनो जोग सैंति किन राखत, इहां देत कत डारे।
तुम्हरे हित अपने मुख करिहैं, मीठे तें नहिं खारेघ
हम गिरिधर के नाम गुननि बस, और काहि उर धारे।
सूरदास, हम सबै एकमत तुम सब खोटे कारेघ

भावार्थ– तुमहि ..तारे,' तुम जले पर और जलाते हो, एक तो कृष्ण की विरहाग्नि से हम यों ही जली जाती है उस पर तुम योग की दाहक बातें सुना रहे हो। आंखें यों ही जल रही है। हमारे जिन नेत्रों में प्यारे कृष्ण बस रहे हैं, उनमें तुम निर्गुण निराकार ब्रह्म बसाने को कह रहे हो। अपनो डारें', तुम्हारा योग-शास्त्र

तो एक बहुमूल्य वस्तु है, उसे हम जैसी गंवार गोपियों के आगे क्यों व्यर्थ बरबाद कर रहे हो। तुम्हारे .खारे,' तुम्हारे लिए हम अपने मीठे को खारा नहीं कर सकतीं, प्यारे मोहन की मीठी याद को छोड़कर तुम्हारे नीरस निर्गुण ज्ञान का आस्वादन भला हम क्यों करने चलीं ?

शब्दार्थ– न्यारे होहु = चले जाओ। सैंति = भली-भांति संचित करके। खोटे = बुरे

---

10 राग केदारा

फिर फिर कहा सिखावत बात।
प्रात काल उठि देखत ऊधो, घर घर माखन खात
जाकी बात कहत हौ हम सों, सो है हम तैं दूरि।
इहं हैं निकट जसोदानन्दन प्रान-सजीवनि भूरि।।
बालक संग लियें दधि चोरत, खात खवावत डोलत।
सूर, सीस नीचौं कत नावत, अब नहिं बोलत

---

11 राग रामकली

उधो, मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयौ स्याम संग, को अवराधै ईस
सिथिल भई सबहीं माधौ बिनु जथा देह बिनु सीस।
स्वासा अटकिरही आसा लगि, जीवहिं कोटि बरीस
तुम तौ सखा स्यामसुन्दर के, सकल जोग के ईस।
सूरदास, रसिकन की बतियां पुरवौ मन जगदीस।।

टिप्पणी– गोपियां कहती है, मन तो हमारा एक ही है, दस-बीस मन तो हैं नहीं कि एक को किसी के लगा दें और दूसरे को किसी और में। अब वह भी नहीं है, कृष्ण के साथ अब वह भी चला गया। तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की उपासना अब किस मन से करें ?" स्वासा। बरीस,' गोपियां कहती हैं,"यों तो हम बिना सिर की-सी हो गई हैं, हम कृष्ण वियोगिनी हैं, तो भी 'याम-मिलन की आशा में इस सिर-विहीन शरीर में हम अपने प्राणों को करोड़ों वर्ष रख

सकती हैं।"सकल जोग के ईस' क्या कहना, तुम तो योगियों में भी शिरोमणि हो। यह व्यंग्य है।

शब्दार्थ– हुतो =था। अवराधै = आराधना करे, उपासना करे। ईस =निर्गुण ईश्वर। सिथिल भई = निष्प्राण सी हो गई हैं। स्वासा = 'वास, प्राण। बरीश = वर्ष का अपभ्रंश। पुरवौ मन = मन की इच्छा पूरी करो।

---

12 राग टोडी

अंखियां हरि-दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूप-रस रांची ये बतियां सुनि रूखी।।
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब ये तौ नहिं झूखी।
अब इन जोग संदेसनि ऊधो, अति अकुलानी दूखी।।
बारक वह मुख फेरि दिखावहुदुहि पय पिवत पतूखी।
सूर, जोग जनि नाव चलावहु ये सरिता हैं सूखी।।

भावार्थ–अंखियां रूखी, जिन आंखों में हरि-दर्शन की भूल लगी हुई है, जो रूप- रस में रंगी जा चुकी हैं, उनकी तृप्ति योग की नीरस बातों से कैसे हो सकती है ? अवधि ..दूखी, इतनी अधिक खीझ इन आंखों को पहले नहीं हुई थी, क्योंकि श्रीकृष्ण के आने की प्रतीक्षा में अब तक पथ जोहा करती थीं। पर उद्धव, तुम्हारे इन योग के संदेशों से इनका दु:ख बहुत बढ़ गया है। जोग जनि सूखी,' अपने योग की नाव तुम कहां चलाने आए हो? सूखी रेत की नदियों में भी कहीं नाव चला करती है? हम विरहिणी ब्रजांगनाओं को क्यों योग के संदेश देकर पीड़ित करते हो ? हम तुम्हारे योग की अधिकारिणी नहीं हैं।

शब्दार्थ– रांची =रंगी हुई अनुरूप। अवधि = नियत समय। झूखी = दु:ख से पछताई खीजी। दु:खी =दु:खित हुई। बारक =एक बार। पतूखी =पत्तेश का छोटा-सा दाना।

---

13 राग मल्हार

ऊधो, हम लायक सिख दीजै।
यह उपदेस अगिनि तै तातो, कहो कौन बिधि कीजै।।
तुमहीं कहौ, इहां इतननि में सीखनहारी को है।

जोगी जती रहित माया तैं तिनहीं यह मत सोहै।।
कहा सुनत बिपरीत लोक में यह सब कोई कैहै।
देखौ धौं अपने मन सब कोई तुमहीं दूषन दैहै।।
चंदन अगरु सुगंध जे लेपत, का विभूति तन छाजै।
सूर, कहौ सोभा क्यों पावै आंखि आंधरी आंजै।।

भावार्थ– हम लायक, हमारे योग्य, हमारे काम की। अधिकारी देखकर उपदेश दो। कहौ कीजै, तुम्हीं बताओ, इसे किस तरह ग्रहण करे ? विपरीत उल्टा, स्त्रियों को भी कठिन योगाभ्यास की शिक्षा दी जा रही है, यह विपरीत बात सुनकर संसार क्या कहेगा?आंखि आंधरी आंजै' अंधी स्त्री यदि आंखों में काजल लगाए तो क्या वह उसे शोभा देगा ? इसी प्रकार चंदन और कपूर का लेप करने वाली कोई स्त्री शरीर पर भस्म रमा ले तो क्या वह शोभा पायेगी ?

शब्दार्थ– सिख = शिक्षा, उपदेश। तातो =गरम। जती =यति, संन्यासी। यह मत सोहै = यह निर्गुणवाद शोभा देता है। कैहै =कहेगा। चंदन अगरु = मलयागिर चंदन विभूति =भस्म, भभूत। छाजै =सोहती है।

---

14 राग सारंग
ऊधो, मन माने की बात।
दाख छुहारो छांड़ि अमृतफल, बिषकीरा बिष खात।।
जो चकोर कों देइ कपूर कोउ, तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरि काठ में, बंधत कमल के पात।।
ज्यों पतंग हित जानि आपुनो दीपक सो लपटात।
सूरदास, जाकौ जासों हित, सोई ताहि सुहात।।

टिप्पणी– अंगार अघात,' तजि अंगार न अघात' भी पाठ है उसका भी यही अर्थ होता है, अर्थात् अंगार को छोड़कर दूसरी चीजों से उसे तृप्ति नहीं होती, तजि अंगार कि अघात' भी एक पाठान्तर है। उसका भी यही अर्थ है।

शब्दार्थ– अंगार अघात, =अंगारों से तृप्त होता है, प्रवाद है कि चकोर पक्षी अंगार चबा जाता है। कोरि =छेदकर। पात =पत्ता।

---

15 राग काफी

निरगुन कौन देश कौ बासी।
मधुकर, कहि समुझाइ, सौंह दै बूझति सांच न हांसी।।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी।
कैसो बरन, भेष है कैसो, केहि रस में अभिलाषी।।
पावैगो पुनि कियो आपुनो जो रे कहैगो गांसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ ठगो-सौ सूर सबै मति नासी।।

टिप्पणी– गोपियां ऐसे ब्रह्म की उपासिकाएं हैं, जो उनके लोक में उन्हीं के समान रहता हो, जिनके पिता भी हो, माता भी हो और स्त्री तथा दासी भी हो। उसका सुन्दर वर्ण भी हो, वेश भी मनमोहक हो और स्वभाव भी सरस हो। इसी लिए वे उद्धव से पूछती हैं, अच्छी बात है, हम तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म से प्रीति जोड़ लेंगी, पर इससे पहले हम तुम्हारे उस निर्गुण का कुछ परिचय चाहती हैं। वह किस देश करने वाला है, उसके पिता का क्या नाम है, उसकी माता कौन है, कोई उसकी स्त्री भी है, रंग गोरा है या सांवला, वह किस देश में रहता है, उसे क्या-क्या वस्तुएं पसंद हैं, यह सब बतला दो। फिर हम अपने 'यामसुन्दर से उस निर्गुण की तुलना करके बता सकेंगी कि वह प्रीति करने योग्य है या नहीं।" पावैगो गांसी, जो हमारी बातों का सीधा-सच्चा उत्तर न देकर चुभने वाली व्यंग्य की बाते कहेगा, उसे अपने किए का फल मिल जायेगा।

शब्दार्थ– निरगुन = त्रिगुण से रहित ब्रह्म। सौंह =शपथ, कसम। बूझति =पूछती हैं। जनक =पिता। वरन =वर्ण, रंग। गांसी = व्यंग, चुभने वाली बात।

---

16 राग नट

कहियौ जसुमति की आसीस।
जहां रहौ तहं नंदलाडिले, जीवौ कोटि बरीस।।
मुरली दई, दौहिनी घृत भरि, ऊधो धरि लई सीस।
इह घृत तौ उनहीं सुरभिन कौ जो प्रिय गोप-अधीस
ऊधो, चलत सखा जुरि आये ग्वाल बाल दस बीस।।
अबकैं ह्यां ब्रज फेरि बसावौ सूरदास के ईस

टिप्पणी–जहां रहौं बरीस,' "प्यारे नंदनंदन, तुम जहां भी रहो, सदा सुखी रहो और करोड़ों वर्ष चिरंजीवी रहो। नहीं आना है, तो न आओ, मेरा वश ही क्या

! मेरी शुभकामना सदा तुम्हारे साथ बनी रहेगी, तुम चाहे जहां भी रहो।"मुरली सीस,' यशोदा के पास और देने को है ही क्या, अपने लाल की प्यारी वस्तुएं ही भेज रही हैं- बांसुरी और कृष्ण की प्यारी गौओं का घी। उद्धव ने भी बड़े प्रेम से मैया की भेंट सिरमाथे पर ले ली।

शब्दार्थ कोटि बरीस =करोड़ों वर्ष। दोहिनी =मिट्टी का बर्तन, जिसमें दूध दुहा जाता है, छोटी मटकिया। सुरभिन =गाय। जो प्रिय गोप अधीस = जो गोएं ग्वाल-बालों के स्वामी कृष्ण को प्रिय थीं। जुरि आए = इकट्ठे हो गए।

---

17 राग गोरी

कहां लौं कहिए ब्रज की बात।
सुनहु स्याम, तुम बिनु उन लोगनि जैसें दिवस बिहात।।
गोपी गाइ ग्वाल गोसुत वै मलिन बदन कृसगात।
परमदीन जनु सिसिर हिमी हत अंबुज गन बिनु पात।।
जो कहुं आवत देखि दूरि तें पूंछत सब कुसलात।
चलन न देत प्रेम आतुर उर, कर चरननि लपटात।।
पिक चातक बन बसन न पावहिं, बायस बलिहिं न खात।
सूर, स्याम संदेसनि के डर पथिक न उहिं मग जात।।

भावार्थ– परमदीनपात, सारे ब्रजवासी ऐसे श्रीहीन और दीन दिखाई देते है, जैसे शिशिर के पाले से कमल कुम्हला जाता है और पत्ते उसके झुलस जाते हैं। ृपिक पावहिं,' कोमल और पपीहे विरहाग्नि को उत्तेजित करते हैं, अतः बेचारे इतने अधिक कोसे जाते हैं कि उन्होंने वहां बसेरा लेना भी छोड़ दिया है। बायस खात,' कहते हैं कि कौआ घर पर बैठा बोल रहा हो और उसे कुछ खाने को रख दिया जाये, तो उस दिन अपना कोई प्रिय परिजन या मित्र परदेश से आ जाता है। यह शकुन माना जाता है। पर अब कोएं भी वहां जाना पसंद नहीं करते। वे बलि की तरफ देखते भी नहीं। यह शकुन भी असत्य हो गया।

शब्दार्थ– विहात =बीतते हैं। मलिन बदन = उदास। सिसिर हिमी हत = शिशिर ऋतु के पाले से मारे हुए। बिनु पात = बिना पत्ते के। कुसलात = कुशल-क्षेम। बायस =कौआ। बलि भोजन का भाग।

---

18 राग मारू

ऊधो, मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
बृंदावन गोकुल तन आवत सान तृनन की छाहीं।।
प्रात समय माता जसुमति अरु नंद देखि सुख पावत।
माखन रोटी दह्यो सजायौ अति हित साथ खवावत।
गोपी ग्वाल बाल संग खेलत सब दिन हंसत सिरात।
सूरदास, धनि धनि ब्रजबासी जिनसों हंसत ब्रजनाथ।।

शब्दार्थ– गोकुल तन = गोकुल की तरफ। तृनन की = वृक्ष–लता आदि की। हित =स्नेह। सिरात = बीतता था।

भावार्थ– निर्मोही मोहन को अपने ब्रज की सुध आ गई। व्याकुल हो उठे, बाल्यकाल का एक–एक दृश्य आंखों में नाचने लगा। वह प्यारा गोकुल, वह सघन लताओं की शीतल छाया, वह मैया का स्नेह, वह बाबा का प्यार, मीठी–मीठी माखन रोटी और वह सुंदर सुगंधित दही, वह माखन–चोरी और ग्वाल बालों के साथ वह ऊधम मचाना ! कहां गये वे दिन? कहां गई वे घड़िया।

भक्ति आन्दोलन

हिन्दू आध्यात्मिकता की पुनर्व्याख्या की सबसे स्पष्ट मिसाल मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के विवेचन के सन्दर्भ में मिलती है। इस विवेचन में भक्ति आन्दोलन की सराहना और सख्त आलोचना दोनों ही एक साथ उपस्थित है। बालकृष्ण भट्ट के लिए भक्तिकाल की उपयोगिता अनुपयोगिता का प्रश्न मुस्लिम चुनौती का सामना करने से सीधे–सीधे जुड़ गया था। इस दृष्टिकोण के कारण भट्ट जी ने मध्यकाल के भक्त कवियों का काफी कठोरता से विरोध किया और उन्हें हिन्दुओं को कमजोर करने का जिम्मेदार भी ठहराया। भक्त कवियों की कविताओं के आधार पर उनके मूल्यांकन के बजाय उनके राजनीतिक सन्दर्भों के आधार पर मूल्यांकन का तरीका अपनाया गया। भट्ट जी ने मीराबाई व सूरदास जैसे महान कवियों पर हिन्दू जाति के पौरुष पराक्रम को कमजोर करने का आरोप मढ़ दिया। उनके मुताबिक समूचा भक्तिकाल मुस्लिम चुनौती के समक्ष हिन्दुओं में मुल्की जोश जगाने में नाकाम रहा। भक्त कवियों के गाये भजनों ने हिन्दुओं के पौरुष और बल को खत्म कर दिया।

मीराबाई, सूरदास, कुम्भनदास, सनातन गोस्वामी आदि कितने महापुरुष जिनके बनाये भजन और पदों का कैसा असर है जिसे सुन कर चित्त आर्द्र हो

जाता है। मुल्की जोश की कोई बात तो इन लोगों में भी न थी उसकी जड़ तो न जानिये कब से हिन्दू जाति के बीच से उखड़ गयी।"

भक्तिकाल सम्बन्धी अपने विवेचन में बालकृष्ण भट्ट जी ने मुस्लिम शासन के राजनीतिक सन्दर्भो को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया और वल्लभाचार्य व चैतन्य महाप्रभु के भक्ति स्वरूप की व्याख्या करने के स्थान पर तत्कालीन परिस्थितियों पर अधिक जोर देते हुए लिखा : ये लोग ऐसे समय में हुए जब देश का देश म्लेच्छाक्रान्त हो रहा था और मुसलमानों के अत्याचारों से नाकों में प्राण आ लगे थे। इससे आध्यात्मिकता पर इन्होंने बिल्कुल जोर न दिया।

भक्तिकालीन सन्तों पर इल्जाम लगाना कि उन्होंने आध्यात्मिकता पर जोर नहीं दिया, अजीबोगरीब बात थी। जाहिर है कि भट्ट जी के मस्तिष्कं में आध्यामिकता ईश्वरीय भक्ति व चिन्तन के बजाय लौकिक शक्ति व सम्पन्नता का पर्याय बन चुकी थी। मूल्यांकन की कसौटियां अगर काल्पनिक धारणाओं से निर्मित की जाती हैं तब वस्तुगत यथार्थ की व्याख्या भी वैज्ञानिक और वस्तुगत नहीं रह पाती। इतिहास के एक विशिष्ट चरण के आधार पर इतिहास की समूची प्रक्रिया के विषय में निष्कर्ष निकाले जाते हैं। भव्य और श्रेष्ठ की तुलना में पतन तथा विकार से भरे ऐतिहासिक युग, चरण तथा घटनाओं का उल्लेख किया जाता है। बालकृष्ण भट्ट ने भी इतिहास की व्याख्या ऐसे नजरिये से की, जो यह जानने और बताने के लिए अधिक उत्सुक था कि हिन्दुओं की शक्ति और आत्मगौरव में कब उन्नति हुई और कब गिरावट आयी। मध्यकाल में उन्होंने भक्ति भावना के विकास के साथ ही यह भी शिकायत की कि, हमारी आध्यात्मिक उन्नति के सुधार पर किसी की दृष्टि न गयी। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिकता पर बिल्कुल जोर न देने के कारण भक्त कवियों व आचार्यो की निन्दा करते हुए लिखा कि ऋषि प्रणीत प्रणाली को हाल के इन आचार्यों ने सब भांति तहस-नहस कर डाला।

जाहिर है कि बालकृष्ण भट्ट ने भक्ति और आध्यात्म के मध्य अपनी मर्जी से एक विभाजन खड़ा कर दिया था। उनके अनुसार भक्ति का सम्बन्ध रसीली और हृदयग्रहिणी प्रवृत्तियों, विमलचित्त अकुटिल भाव और सेवक सेव्य भाव से है जबकि आध्यात्म का सम्बन्ध ज्ञान, कुशाग्र बुद्धि और अन्ततः जातीयता (नेशनैलिटी) से होता है। इसी आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि "भक्ति ऐसी रसीली और हृदयग्रहिणी हुई कि इसका सहारा पाये लोग रूखे ज्ञान को अवज्ञा और अनादर की दृष्टि से देखने लगे और साथ ही जातीयता

नेशनैलिटी को भी विदाई देने लगे जिसके रफूचक्कर हो जाने से भारतीय प्रजा में इतनी कमजोरी आ गयी कि पश्चिमी देशों से यवन तथा तुरुक और मुसलमानों के यहां आने का साहस हुआ।"

भक्तिकाल की यह पूर्वग्रहपूर्ण आलोचना आज शायद ही किसी को स्वीकार हो। लेकिन कमाल की बात है कि रामचन्द्र शुक्ल से लेकर हजारी प्रसाद द्विवेदी तक के भक्तिकाल सम्बन्धी मतों का बारीक विवेचन करने वाली हिन्दी आलोचना बालकृष्ण भट्ट की भक्तिकाल से जुड़ी धारणाओं पर ध्यान नहीं दे सकी। हकीकत यह है कि आध्यात्म और जातीयता का यह सम्बन्ध धर्म और राजनीति के सम्बन्धों की वकालत करता था। हिन्दी का समूचा नव-जागरणकालीन चिन्तन कुरीतियों और आड़म्बरों को समाप्त करने की दृष्टि से हिन्दू धर्म की आन्तरिक संरचना में सुधार की बात तो कहता था, लेकिन हिन्दुओं की सांस्कृतिक धार्मिक अस्मिता का उपयोग किये बगैर हिन्दुओं के राजनीतिक पुनरुत्थान को असम्भव मानता था। भक्ति आन्दोलन में चूंकि राजनीतिक ढांचे को धार्मिक संस्थाओं व विचारों से नियन्त्रित करने का स्पष्ट सरोकार नहीं मिलता, इसलिए भट्ट जी जैसे लेखकों ने उसकी आलोचना की। यह आलोचना इस कल्पना से प्रेरित थी कि प्राचीनकाल में धर्म और आध्यात्म राजनीति से विलग नहीं हुए थे इसलिए हिन्दू जाति के शौर्य, मानसिक शक्ति और वीर्य जैसे गुण भी बने रहे और जातीयता का भावबोध भी।

❐❐❐